श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

श्रीनीलकन्ठ सूरि सङ्गृहीतम्

श्रीमन्त्रभागवतम्

हिन्दी अनुवाद सहित

गौडीयसम्प्रदायाचार्य
श्रीहरिदास शास्त्रीणा सम्पादितः

आधुनिक प्रतिलिपि संस्करण

पण्डित श्रीरघुनाथ दास शास्त्रीजी महाराज
व्याकरण,वेदान्तदर्शन,(श्रीधामवृन्दावन)

www.bhaktidarshan.org

Whatsapp +918218476676

।। श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्।।

श्रीमन्त्रभागवतम्

श्रीनीलकण्ठ सूरि सङ्गृहीतम्

ऋग्वेद में श्रीश्रीगौर-कृष्ण लीला

श्रीधाम वृन्दावन वास्तव्येन न्याय वैशेषिक शास्त्रि, नव्य
न्यायाचार्य, काव्य, व्याकरण, साङ्ख्य, मीमांसा,
वेदान्त, तर्क, तर्क, न्याय, वैष्णवदर्शनतीर्थ,
विद्यारत्नाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदास शास्त्रिणा
सम्पादितम्।

सद्ग्रन्थ प्रकाशक :-
श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह,
वृन्दावन, मथुरा, (उत्तर प्रदेश)।
श्रीचैतन्याब्द—५२८

प्रकाशक :-

श्रीहरिदास शास्त्री

संस्थापकाध्यक्ष :-

श्रीहरिदास शास्त्री गोसेवा संस्थान
श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह,
वृन्दावन, मथुरा, (उत्तर प्रदेश)।

प्रकाशन तिथि :
श्रीलगदाधर पण्डित गोस्वामी चरण का
जन्मोत्सव
वैशाखी अमावस्या कृष्ण पक्ष, सम्वत् २०७०, श्रीगौराङ्गाब्द ५२८

प्रथम संस्करण

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

प्राक्कथन

यह ग्रन्थ मन्त्र भागवत नाम से प्रसिद्ध है। वेद से २५० मन्त्रों का संकलन इसमें हुआ है। इन मन्त्रों में श्री गौराङ्गदेव एवं श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है। आदि में श्री गौराङ्गदेव का वर्णन हुआ है। मन्त्र भागवत में चार काण्ड हैं– गोकुल काण्ड, वृन्दावन काण्ड, अक्रूर काण्ड, मथुरा काण्ड। इन चार काण्डों में श्रीमद्‌भागवतीय श्रीकृष्ण लीलाओं का मार्मिक वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ के संकलनकर्त्ता का स्वयं के द्वारा परिचय इस प्रकार है–

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्य्यादाधुरन्धरचतुर्धरवंशावतंस गोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठस्य कृतौ सोद्धृतमन्त्रभागवत व्याख्यायां मन्त्ररहस्य प्रकाशिकायां मथुराकाण्डश्चतुर्थः॥

श्री नीलकण्ठ सूरि नामक विद्वद्‌वर्य्य ग्रन्थ के संकलनकर्त्ता हैं। इसमें मन्त्र रहस्य प्रकाशिका नामक जो व्याख्या है, पण्डितवर्य्य की है। श्री व्यासदेव कृत अष्टादश पुराणों के मध्य में सुप्रसिद्ध पुराण श्रीमद्‌भागवत है। जिनका विवरण इस प्रकार है– श्रीमद्‌भागवत के द्वादश स्कन्ध के१३वें अध्याय के१८वें श्लोक में वर्णित है–

श्रीमद्‌भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

यह श्रीमद्‌भागवत सर्वथा निर्दोष है, भगवान् के प्यारे भक्त वैष्णवों का यह अत्यन्त प्रिय है। इस पुराण में जीवन्मुक्त परमहंसों के सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय एवं माया के लेश से रहित ज्ञान का गान किया गया है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मों की आत्यन्तिका

निवृत्ति भी ज्ञान वैराग्य एवं भक्ति से युक्त है, जिसको एकता अनुकूलता शब्द से कहते हैं। जो इसका श्रवण, पठन और मनन करने लगता है उसे भगवान् की एकता अनुकूलता रूप भक्ति प्राप्त हो जाती है, और वह मुक्त हो जाता है।

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञान प्रदीपाय पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा॥
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥

भागवत १२।१३।१९

यह श्रीमद्भागवत् भगवत्तत्त्वज्ञान का एक उत्तम प्रकाशक है। इसकी तुलना में और कोई भी पुराण नहीं है, इसे सबसे पहले स्वयं भगवान् नारायण ने ब्रह्माजी के लिए प्रकट किया था। फिर उन्होंने ही ब्रह्माजी के रूप से देवर्षि नारद को उपदेश किया, और नारदजी के रूप से भगवान् श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास को। तदनन्तर उन्होंने ही व्यास रूप से योगीन्द्र शुकदेव जी को और श्री शुकदेव जी के रूप से अत्यन्त करुणावश राजर्षि परीक्षित को उपदेश दिया। वे भगवान् परम शुद्ध एवं माया मल से रहित हैं। शोक और मृत्यु उनके पास नहीं फटक सकते। हम सब उन्हीं परम सत्य स्वरूप परमेश्वर का ध्यान करते हैं।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ भा. १।१।३

यह श्रीमद्भागवत वेद रूप कल्पवृक्ष का पका हुआ फल है। श्री शुकदेव रूप तोते के मुख का सम्बन्ध हो जाने से यह परमानन्दमयी सुधा से परिपूर्ण हो गया है। इस फल में छिलका गुठली आदि त्याज्य अंश नहीं है। यह मूर्तिमान् रस है। जब तक शरीर में चेतना रहे, तब तक इस दिव्य भगवद्रस का निरन्तर बारम्बार पान करते रहो, यह पृथ्वी पर ही सुलभ है।

श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः।
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥ भा. १।१।२१

महामुनि व्यासदेव के द्वारा इस श्रीमद्भागवत महापुराण में मोक्ष पर्य्यन्त फल की कामना से रहित परम धर्म का निरूपण हुआ है। इसमें

शुद्धान्तःकरण मनुष्यों के जानने योग्य उस वास्तविक वस्तु परमात्मा का निरूपण हुआ है, जो तीनों तापों का जड़ से नाश करने वाली और परम कल्याण देने वाली है। अब और किसी साधन या शास्त्र से क्या प्रयोजन है? जिस समय भी सुकृती पुरुष इसके श्रवण की इच्छा करते हैं ईश्वर उसी समय अविलम्ब उनके हृदय में आकर बन्दी बन जाते हैं।

श्रीमद्‌भागवत के ११।२१।३५-४३ में उक्त है—

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्॥३५॥
शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥३६॥
मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते॥३७॥
यथोर्णनाभिर्हृदयापूर्णामुद्वमते मुखात्।
आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥३८॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ओङ्कारादू व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम्॥३९॥
विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम्॥४०॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप च बृहती पङ्क्तिरेव च।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद् विराट्॥४१॥
किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन॥४२॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥४३॥

श्रीकृष्ण कहते हैं— उद्धवजी! वेदों में तीन काण्ड हैं, कर्म उपासना और ज्ञान, इन तीनों काण्डों के द्वारा प्रतिपादित विषय है, ब्रह्म और आत्मा की एकता अनुकूलता। सभी मन्त्र और मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस विषय को खोलकर

नहीं, गुप्तभाव से बतलाते हैं और मुझे भी इस बात को गुप्त रूप से कहना ही अभीष्ट है। (क्योंकि सब लोक इसके अधिकारी नहीं है। अन्तःकरण शुद्ध होने से बात समझ में आती है) ॥३५॥

वेदों का नाम है शब्द ब्रह्म। वे मेरी मूर्त्ति हैं। इसी से उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है। वह शब्द ब्रह्म, परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणी के रूप में प्राण, मन और इन्द्रियमय है। समुद्र के समान सीमा रहित और गहरा है। उसकी थाह लगाना अत्यन्त कठिन है। (इसी से जैमिनि आदि बड़े-बड़े विद्वान् भी उसके तात्पर्य्य का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते) ॥३६॥

उद्धव! मैं अनन्त शक्ति सम्पन्न एवं अनन्त स्वयं ब्रह्म हूँ। मैंने ही वेद वाणी का विस्तार किया है। जैसे कमल नाल में पतला सा सूत होता है, वैसे ही वह वेदवाणी प्राणियों के अन्तःकरण में अनाहतनाद के रूप में प्रकट होती है ॥३७॥

भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं वेद मूर्त्ति एवं अमृतमय हैं। प्राण और स्वयं अनाहत शब्द के द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति हुई है। जैसे मकड़ी अपने हृदय से मुख द्वारा जाला उगलती और फिर निगल लेती है, वैसे ही वे स्पर्श आदि वर्णों का संकल्प करने वाले मन रूप निमित्त कारण के द्वारा हृदयाकाश से अनन्त अपार अनेकों मार्गों वाली वैखरी रूप वेदवाणी को स्वयं ही प्रकट करते रहते हैं। और फिर उसे अपने में लीन कर लेते हैं। वह वाणी हृद्गत सूक्ष्म ओंकार के द्वारा अभिव्यक्त स्पर्श "क" से लेकर "म" तक २५ स्वर "अ से औ" तक ९। उष्म 'शषसह' और अन्तःस्थ 'य र ल व' इन वर्णों से विभूषित हैं। उसमें ऐसे छन्द हैं, जिनमें उत्तरोत्तर चार-चार वर्ण बढ़ते जाते हैं। और उनके द्वारा विचित्र भाषा के रूप में वह विस्तृत हुई है॥ ३८-४०॥

चार-चार छन्दों में से कुछ ये हैं— गायत्री, उर्ष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती और विराट्॥४१॥

वह वेद वाणी कर्म्मकाण्ड में क्या विधान करती है, उपासना काण्ड में किन प्रतीतियों का अनुवाद करके उसमें अनेकों प्रकार के विकल्प करती है। उन बातों की इस सम्बन्ध में श्रुति के रहस्य को मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता॥४२॥

मैं तुम्हें स्पष्ट बतला देता हूँ, सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्ड में मेरा ही विधान करती हैं, उपासना काण्ड में उपास्य देवताओं के रूप में वे मेरा ही वर्णन करती हैं, और ज्ञान काण्ड में मेरा ही विधान करती हैं, उपासना काण्ड में उपास्य देवताओं के रूप में वे मेरा ही अन्य वस्तुओं का आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियों का बस, इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेद का आरोप करती हैं। माया मात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं, और अन्त में मुझमें ही शान्त हो जाती हैं। और केवल अधिष्ठान रूप से मैं ही रह जाता हूँ॥४३॥

वेद संहिता का विभाग

मनुष्यों में स्मृति का ह्रास होने पर द्वापर युग के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण द्वैपायन रूप में अवतीर्ण होकर वेद का विभाग करके वेद व्यास नाम से प्रसिद्ध हुए थे। अपने चार शिष्यों को निम्नोक्तरूप से वेद विभाग कर दिये थे—

पैल	वैशम्पायन	जैमिनी	आङ्गिरस
ऋक् संहिता	यजु: संहिता	साम संहिता	अथर्व संहिता

ऋग्वेद संहिता में स्तव स्तुति पूर्ण छन्दोमय देवता की उपासना है। पतञ्जलि एवं श्रीमद्भागवत के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएं थीं। सम्प्रति पाँच शाखाएं उपलब्ध हैं। उसमें मण्डल हैं १०, सूक्त हैं १०२८। मन्त्र हैं १०५८०। शब्द १५३८२६ अक्षर ४३२०००।

पहले से आठ मण्डल तक देवता स्त्रोत, अष्टम में बालखिल्य सूक्त, नवम में सोम स्तोत्र है। गायत्री मन्त्र ३।६२।१० में है। समाधि मन्त्र १०।१८ सूक्त और अथर्व वेद में १८ काण्ड में वर्णित है।

पुरुष सूक्त १०।९०।१-१६ ऋक् में है। अथर्व- १९।६।१

सामवेद में ६१७। शुक्ल यर्जुवेद में ३१।१। तै. आ. ३।१२।१

ऋग्वेद में गौर कृष्ण लीला वर्णन परक मन्त्र समूह

मण्डल	सूक्त	मन्त्र	ऋषिः	देवता	छन्दः
१	१०	१, २	मधुछन्दा वैश्वामित्रः	इन्द्रः	अनुष्टुप
१	१६	५	मेधातिथि काण्वः	इन्द्रः गौर	गायत्री
१	२२	१७	मेधातिथि काण्वः	वामनदेवः	गायत्री
१	२२	१९, २०	" "	विष्णुः	"
१	२८	४, ८	आज्जीगर्त्ति शुनःशेफः	इन्द्रः	अनुष्टुप-गायत्री
१	२९	५	" "	"	पंक्तिः
१	३२	७,८,११	हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः	"	त्रिष्टुप्
१	३५	२	" "	सविता	"
१	६६	४	पराशरः शाक्त्यः	अग्निः	द्विपदा विराट्
१	६७	३, ६	" "	अग्निः	"
१	१२३	१	कक्षीवान् दैर्धतमसः	उषाः	त्रिष्टुप्
१	१५२	१	दीर्घतमा उचथ्यः	मित्रा वरुणौ	"
१	१५४	१-३, ६	" "	विष्णुः	"
१	१५६	३, ४	" "	"	जगती
१	१६४	४, ९, १०	" "	विश्वेदेवाः	त्रिष्टुप्
	१२-२२, २७, २८, ३२, ३६, ३८, ३९, ४१, ४६, ४७		"		जगती
१	१६६	१	अगस्त्यो मैत्रावरुणी	मरुतः	जगती
३	३३	१२	गाथिनो विश्वामित्रः	नदीः	त्रिष्टुप्
३	५४	१४,१५, १९-२२	प्रजापतिर्वैश्वामित्रः	विश्वेदेवाः	"
३	५५	१-१२	विरहे " आक्षेप "	विश्वेदेवाः	"
४	७	९, १०	वामदेवो गौतमः	अग्निः	"
४	१८	११	" "	इन्द्रः	"

मण्डल	सूक्त	मन्त्र	ऋषिः	देवता	छन्दः
४	५१	१-३	” ”	उषा	”
४	५८	२	” ”	अग्निः गौर	”
५	६	८, ९	वसुश्रुत आत्रेयः	अग्निः	पंक्तिः
५	७	५, ६	इषआत्रेयः	”	अनुष्टुप्
५	४८	३-५	प्रतिभानुरात्रेयः	विश्वेदेवाः	जगती
५	५२	१७	श्यावाश्व आत्रेयः	मरुतः	पंक्तिः
६	२८	१, २-४, ८	बार्हस्पत्यो भारद्वाजः	गावः	त्रिष्टुप् आदि
६	३९	४	” ”	इन्द्रः	”
७	१	१९	मेत्रावरुणिः वसिष्ठः	अग्निः	त्रिष्टुप्
७	३७	६	”	विश्वेदेवाः	”
७	५९	७	”	मरुतः	”
७	६०	७, ८	”	मित्रावरुणौ	”
८	४	३	देवातिथिः काण्वः	इन्द्रः गौरः	प्रगाथ बृहती
८	४०	६	नाभाकः काण्वः	इन्द्राग्नी	महापंक्तिः
८	४१	५-८	” ”	वरुणः	”
८	४५	२४	त्रिशोकः काण्वः	इन्द्रः गौरः	गायत्री
८	७४	५, ६	विरूप आङ्गिरसः	अग्निः	”
९	८९	६	उशना काव्यः	पवमान सोमः	त्रिष्टुप्
१०	४८	१०	वैकुण्ठ इन्द्रः	इन्द्रः	”
१०	५४	३	बृहदुक्थो वामदेवाः	इन्द्रः	”
१०	५१	६	सौचीको अग्निः	गौर देवाः	”
१०	९५	१४	ऐलः पुरुरवाः	उर्वसी	”
१०	९७	१३	आथर्वणोभिषग्	औषधयः	अनुष्टुप्
१०	१२७	२	कुशिकः सौभरः	रात्रीः	गायत्री
१०	१६५	३	नैर्ऋतः कपोतः	विश्वेदेवाः	त्रिष्टुप्
१०	१६६	१	ऋषभो वैराजः	सपत्नघ्नम्	अनुष्टुप्

सूचीपत्र

सप्तार्द्ध गर्भा भुवनस्य १।९,	१	१।१६४	३६	देवकी का सप्तगर्भ
य ईं चकार १।१०	१	१।१६४	६२	श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान्
कृष्णं त एम १।११	४	७	९	माता के गर्भ में आविर्भाव

गोकुल काण्ड

मन्त्र	काण्ड	मण्डल	सूक्त	मन्त्र	लीला
विष्णुं स्तोमासः	१।१२	३	५४	१४	जननी का स्तव
सस्वश्चिद्धि तन्व	१।१३	७	५९	७	देवस्तुति
इमे दिवो	१।१४	७	६०	७	नन्दालय को गमन
यद् गोपावद्	१।१५	७	६०	८	,, ,,
इद मुत्यत् पुर	१।१६	४	५१	१	यशोदा की गोदी में
अस्थुरु चित्रा	१।१७	४	५१	२	नन्दोत्सव
उच्छन्तीरद्य	१।१८	४	५१	३	व्रजवासी का प्रेम
अपाङ् प्राङेति	१।१९	१	१६४	३८	बाल्य लीला
पृथुरथो दक्षिणाया	१।२०	१	१२३	१	शकट भञ्जन
हेति पक्षिणी	१।२१	१०	१६५	३	पूतनावध
साकं यक्ष्मप्रपत	१।२२	१०	९७	१३	तृणावर्त्त वध
नवा नो अग्न	१।२३	५	६	८	गव्यार्थी गोपगण
उभे सुश्चन्द्र	१।२४	५	६	९	माखन चोरी
अवस्म यस्य	१।२५	५	७	५	माखन चोरी का प्रकार
यं मर्त्यः पुरु	१।२६	५	७	६	,, ,,
अयं रोचयत्	१।२७	६	३९	४	पकड़े गये
यत्र मन्थां	१।२८	१	२८	४	दामबन्धन
ता नो अद्य	१।२९	१	२८	८	यमलार्जुन भञ्जन
क उ नु ते	१।३०	१०	५४	३	विश्वरूप दर्शन

वृन्दावन काण्ड

स जिह्वया	२।२५	५	४८	५	दावानल पान
सद्यो जातस्य	२।२६	४	७	१०	खीर की भाँति भक्षण
उपेदमुप	२।२७	६	२८	८	वृषभासुर का आना
प्रणेमस्मिन्	२।२८	१०	४८	१०	वृषभासुर का बध
अजो न क्षां	२।२९	१	६७	६	अघासुर बध
गोरीर्मिमाय	२।३०	२	१६४	४१	वस्त्र हरण
उर्वप्रा अमर्त्या	२।३१	१०	१२७	२	महारासलीला
सेनेव सृष्टामं	२।३२	१	६६	४	परकीय भाव
गायन्ति त्वा	२।३३	१	१०	१	वंशीध्वनि माधुरी
यत्सानोः	२।३४	१	१०	२	गोवर्धन शृङ्ग में वंशीध्वनि
साकञ्जानां	२।३५	१	१६४	१५	बलदेव व कृष्णतत्त्व
अतारिषुर्भरता	२।३६	३	३३	१२	गोपी अभिसार
स्त्रियं सतीस्तां	२।३७	१	१४	१६	ब्रजदेवी का स्वरूप
अवः परेण पर	२।३८	१	१६४	१७	रासक्रीड़ा का तात्पर्य
अवः परेण	२।३९	१	१६४	१८	शास्त्र तात्पर्य्य
ये अर्वाञ्च	२।३९	१	१६४	१९	मथुरा लीला
द्वा सुपर्णा	२।३९	१	१६४	२०	वृन्दावन लीला श्रवणीय
यत्रा सुपर्णा	२।४०	१	१६४	२१	चरम साधुओं के लिए ब्रजलीला श्रवणीय

अक्रूर काण्डः

देवानां दूतः	३।१	३	५४	१९	देवदूत
शृण्वन्तु नो वृषणः	३।२	३	५४	२०	देवगण विघ्न नहीं करेंगे
सदा सुगः	३।३	३	५४	२१	शुभयात्रा
स्वदस्व हव्या	३।४	३	५४	२२	निमन्त्रण
उषसः पूर्वा	३।५	३	५५	१	विलाप
मोषूणो अत्र	३।६	३	५५	२	,,
विमे पुरुत्रा	३।७	३	५५	३	,,
समानो राजा	३।८	३	५५	४	,,

मथुरा काण्ड

यशस्करं बलवन्तं	४।३	८	४१	५	राजाधिपति कृष्ण
यो धर्त्ता	४।४				देव स्तुति
य आस्वत्क	४।५	८	४१	७	द्वारकापुरी अवस्थान
अपि वृश्च	४।६	८	४०	६	पारिजात हरण
वासयसीव	४।७	७	३७	७	द्रौपदी की लाज रक्षा
मानो अग्ने	४।८	७	१	१९	द्रौपदी कृत स्तुति
उत्समुद्रान्	४।९	६	३	२७	जलकेलि
स समुद्रो	४।१०	८	४१	८	स्वर्ग गमन।

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्॥

ऋग्वेद में श्रीश्रीगौरलीला

सेमं नः स्तोममागहि उपेदं सवनं सुतम्।
गौरो न तृषितः पिब॥

(ऋषि मेधातिथिः काण्वः। इन्द्रः देवता। गायत्री छन्दः। १।१६।५)

सायणभाष्यम्— हे इन्द्र स त्वं नोऽस्मदीयमिमं स्तोमं स्तुतिं प्रत्यागहि आगच्छ। आगमने हेतुरुच्यते— उप देवयजनसमीपे सुतम् अभिषुत सोमयुक्तमिदम् इदानीमनुष्ठीयमानं सवनं प्रातःसवनादिरूपं कर्मवर्त्तते। तस्माद् गौरो न गौरमृगाङ्क चन्द्र इव तृषितः सन्निमं सोमं पिब।

व्याख्यानुवाद- हे परमेश्वर श्रीगौरचन्द्र! आप हमारी स्तुति के समीप में आने की कृपा करें। देव यजन नित्यकृत्य सत्कर्म के समीप में आएं। श्रीश्री गौरचन्द्र रूप में प्रसिद्ध आप हमारे श्रीनाम यज्ञादि भक्ति अनुष्ठान के समीप में आकर तृषित अर्थात् सूर्य्यरश्मि सम्मिलनाकांक्षि चन्द्र की भांति हमारे विशुद्ध सत्त्व भाव के साथ मिलकर संकीर्त्तन रस का आस्वादन करें।

कहने का तात्पर्य यह है कि चन्द्र जिस प्रकार सूर्यकिरण सम्बन्ध का परित्याग कभी भी नहीं करता है, हे देव! गौरचन्द्र! आप भी उस प्रकार हमारे साथ चिर सम्बन्ध युक्त होकर अवस्थान करें।

श्रीमद्भागवत के १।१।३ में उक्त है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥१॥

भागवतरसज्ञ सुधिवृन्द! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पतरु का सुपक्व फल है, श्री शुकदेव रूप तोते के मुख का सम्बन्ध हो जाने से यह परमानन्दमयी सुधा से परिपूर्ण हो गया है। कारण तोते का काटा हुआ फल अधिक मीठा होता है। इस फल में छिलका, गुठली आदि का त्याज्य अंश तनिक भी नहीं है। यह

मूर्त्तिमान् रस है। जब तक शरीर में चेतना रहे, तब तक इस दिव्य भगवद्रस का निरन्तर पान करते रहो। यह रस पृथिवी पर ही सुलभ है।

वयम् नाम प्रब्रवामा घृतस्या, अस्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं, चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्॥

(ऋषिः वामदेवो गौतमः। अग्निः सूर्य्यो वा आपो वा गावो वा घृतस्तुतिर्वा। त्रिष्टुप् छन्दः) (म. ४।५८।२)

भाष्यम्— ओम् वयं नामेत्यादि। 'चतुः शृङ्गः' चत्वारः अङ्गादयः शृङ्गाः लक्षणानि यस्य सः साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदः 'गौरः' राधाभावद्युति-सुवलितः श्रीगौराङ्गः यथा 'एतत् ब्रह्म' नामरूपगुणलीलामयं श्रीकृष्णाख्यं श्रीहरिनामात्मकं वा 'अवमीत्' वान्तवान् — श्रीचैतन्यमुखोद्गीर्णा हरे कृष्णेति मन्त्रकाः इति। तथा 'वयं नमोभिः' नमस्कारैः युक्ताः सन्तः 'अस्मिन्' कलौ 'यज्ञे' सङ्कीर्त्तनाख्ये 'घृतस्य' हविः स्वरूपस्य परब्रह्मणः तत् 'नाम धारयामा'। चित्ते धारयामः, 'प्रब्रवामा' प्रब्रवामः— सर्वदा उच्चारयामः च। स अस्माभिः 'शस्यमानं' कीर्त्यमानं तत् 'उप शृणुवत्' उपशृणुयात्॥ (मः ४।५८।२)

व्याख्यानुवाद- कलियुग में सङ्कीर्त्तन रूप यज्ञ में घृताहुति स्वरूप परब्रह्म का नाम — हरेकृष्ण आदि का हम सब धारण स्मरण करेंगे। कीर्त्तन, श्रवण करेंगे। उक्त हरेकृष्णेति नाम राधाभावद्युतिसुवलित श्रीगौरांग सपरिकर (चतुःशृङ्ग) चतुरङ्ग सेना साङ्ग उपाङ्ग अस्त्र व पार्षद वेष्टित होकर ब्रह्म के नाम रूप गुण लीलामय श्रीहरिनाम का उच्च स्वर से कीर्त्तन किये हैं।

हम सब उन नाम का आश्रय सब प्रकार से ग्रहण करके, अथवा तत्त्व महिमा को न जानकर भी केवल प्रणतिसमूह के द्वारा ही श्रीनामाश्रय करके रहेंगे।

श्रीरूपगोस्वामिकृत लघुभागवतामृत में उक्त है—

श्रीचैतन्यमुखोद्गीर्णा हरेकृष्णेति वर्णका।
मज्जयन्तो जगत्प्रेम्नि विजयन्तां तदाह्वया॥

श्रीनामाष्टक में उक्त है—

निखिलश्रुतिमौलिरत्नमाला-द्युतिनिराजितपादपङ्कजान्तः।
अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं परितस्त्वां हरिनाम संश्रयामि॥१॥

श्रीमद्भागवत महापुराण के ११।५।३२ में उक्त है—

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

यथा गौरो अपाकृतं तृष्यन् एत्यवेरिणम्।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि, कण्वेषु सुसचा पिब॥३॥

देवातिथिः काण्वः ऋषिः। इन्द्रः। प्रगाथः— विषमा वृहती समा च। (मः ८।४।३ ऋक्। साम २५२। निरुक्त ३।२०)

सायणभाष्यम्— गौरो गौरमृगः तृष्यन् पिपासन् अपा अद्भिः उदकैः। व्यत्ययेनैकवचनं। कृतं सम्पूर्णत्व कृतं इरिणं निस्तृणं तटाकदेशं यथा येन प्रकारेण अवैति अवगच्छति। अवशब्दः अभिशब्दस्यार्थे। अभिमुखः सन् शीघ्रं गच्छति। तथा अपित्वे बन्धुत्वे प्रपित्वे प्राप्ते सति हे इन्द्र! त्वं नो अस्मान् तूयं क्षिप्रनामैतत् शीघ्रम् आगहि आगच्छ। आगत्य च कण्वेषु कण्वपुत्रेषु अस्मासु सचा सह एकयत्नेनैव विद्यमानं सर्वं सोमं सु सुष्ठु पिब।

व्याख्यानुवाद- गौरवर्ण मृग जिस प्रकार तृषार्त्त होकर तृणहीन नदी के तट में बालुकामय प्रदेश को अतिक्रमण करके जल की ओर शीघ्र धावित होता है, उस प्रकार अशरणगण बन्धु श्रीगौरहरि आप परमेश्वर होने पर भी अगति को गति देने वाले आप सत्वर आकर सोमरस का पान करो, अर्थात् भक्तिरसपान सतृष्ण होकर करो। श्रीगीता में आपने स्वयं ही कहा है (९/२६)— "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥" भक्तिरस मिश्रित उपहार का भोजन पान यत्न के साथ सख्य भाव से करो। "भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति। भक्तिवशः पुरुषः भक्तिरेव भूयसी॥" श्रीचैतन्यभागवत के (२।९) अध्याय में महाभाव प्रकाश प्रकरण में इसका विशेष विवरण है।

इह त्वा गोपरीणसा महे मदन्तु राधसे।
सरो गौरो यथा पिब॥४॥

(त्रिशोकः काण्वः ऋषिः। इन्द्रः। गायत्री छन्दः। ऋक् मः ८।४५।२४, साम ७३३, अथर्व २०।२२।३)

सायणभाष्यम्— हे इन्द्र! त्वा त्वामिह यज्ञे गोपरीणसा गव्येन पयसा संमिश्रितेन सामेन महे महते राधसे धनाय मदन्तु मनुष्या मादयन्तु। त्वञ्च तं सोमं यथा गौरो मृग: सर: पिबति तथा पिब ॥४॥

व्याख्यानुवाद- हे गौरचन्द्र! भक्तवृन्द आपको इस श्रीनामयज्ञरूप महोत्सव में गव्य दुग्ध मिश्रित प्रीतिरस के द्वारा महाभाव प्रकाश में महा आराधना के द्वारा मत्त करें। आप भी उस प्रणय रस मिश्रित प्रेमरस का पान सतृष्ण होकर उस प्रकार करें जिस प्रकार मृग सरोवर में तृषित होकर जलपान करता है।

श्रीचैतन्यभागवत के मध्य खण्ड के नवम अध्याय का महाभाव प्रकाश प्रकरण इस प्रकार है—

परम प्रकाश वैकुण्ठेर चूड़ामणि। किछु देह खाइ, प्रभु चाहेन आपनि॥
हस्तपाते प्रभु, देखे सर्वभक्तगण। ये ये मत देय सब करेन भोजन॥
केह देइ कदल केह दिव्य मुद्‌ग। केह दधि क्षीर वा नवनी केह दुग्ध॥
प्रभुर श्रीहस्ते सब देइ भक्तगण। अमायाय महाप्रभु करेन भोजन॥
(सात प्रहरिया प्रकरण) ॥४॥

अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरी वु:।
तस्माद् भिया वरुण दूरमायं गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्याया॥५॥

(सौचीकोऽग्नि: ऋषि: । देवा: । त्रिष्टुप् छन्द: । म: १०।५१।६)

सायणभाष्यम्— अनया अग्नि: स्वपलायन निमित्तमाह— हे देवा: अग्ने: मम पूर्वे पूर्वमुत्पन्ना भ्रातरो भूपति र्भुवनपति र्भूतानां पतिरिति। त्रयो अग्रजा:। एतमर्थं हविर्वहनाख्यं अर्थं अन्वावरीवु: अनुक्रमेण वृतवन्त:। तत्र वृणोते यङ्लुगन्तात् लुङि लुक् बहुलम् छन्दसित्युक्तम्। आवरणे दृष्टान्त:— रथीव अध्वानं, अध्वानं यथा रथी वृणोति तद्वत्। ते भ्रातर: तथा कुर्वन्तो मृता:। तस्मान् मरणात् भिया हे वरुण! दूरं देशमायम्। क्षेप्नो: इषुक्षेप्तुर्धनुषो ज्याया: सकाशात्। गौरो न अविजे गौरमृग इव, सयथा विभेति चलति वा तद्वद् अविजे अकम्पे। ओविजी भय चलनयो: अनुदात्तेत्। तौतादिक: तस्य लङि उत्तमे रूपम्। "वेदाहमेकं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमस: परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्य: पन्था विद्यते अयनाय॥ यस्मात् परं नापरमन्ति किञ्चित् यस्मान्नानीयो न ज्यायोऽस्ति

कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः। सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥ इति श्वेताश्वतरश्रुतेः (३।८, ९, १२,) ॥५॥

व्याख्यानुवाद- इस मन्त्र में अग्निदेव जलाधि वरुणदेव को सम्बोधन करके कह रहे हैं— मैं मेरे पूर्वतन ब्रह्मादि भाई सबकी मौत को देखकर मौत से भयभीत होकर बहुदेश भ्रमण करने के बाद मृत्यु के हाथ के बाहर श्रीगौरहरि के चरण आश्रय किया हूँ। श्रीगौरहरि के चरण आश्रय ग्रहण करने से ही निर्भय हुआ जाता है।

"ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तः द्विपरार्द्ध परायुषः" दो परार्द्ध परमायु वाले ब्रह्मा का भी मृत्युभय है, कारण "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्ज्जुन।" कालक्रम से ब्रह्मा का निवास स्थान सत्यलोक का भी परिवर्त्तन होता है।

ध्रुव श्रीहरिचरण प्राप्त कर मृत्युभय रहित होकर मौत के शिर पर पग धरकर ध्रुव लोक में जाककर स्थिर हो गये हैं, किन्तु मेरा निस्तार नहीं है। यज्ञेश्वर श्रीहरि के यज्ञ की आहुति के होमद्रव्य होकर प्रत्येक देवता को देने से यजमान की कामना पूर्त्ति होती है। पूर्णाहुति के समय "अग्ने त्वं समुद्रं गच्छ" अग्नि तुम अब समुद्र को चले जाओ" कहने पर मृत्युभय से भीत होकर हे समुद्राधिपति वरुणदेव तुम्हारे आश्रय में रहता हूँ। पुनर्वार यजमान के बुलाने पर अधीन होकर लौकिक वैदिक कार्यों में संलग्न रहता हूँ। भृगु मुनि ही सबसे पहले मेरे गुण को जानकर मुझको लौकिक वैदिक कामकाज में लगा चुके हैं (सामवेद)। अब मैं श्रीगौरहरि के श्रीचरण आश्रय कर उनके द्वारा व्यवस्थापित संकीर्त्तन यज्ञ में 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' वाक्यरूप धारण करके भक्तवृन्द के मुख में प्रवेश कर श्रीनाम संकीर्त्तन यज्ञ में "जय श्रीराधागोविन्द, श्रीराधागोविन्द, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे" इत्यादि नामरस सुधा का पान निरन्तर करते हुए मृत्यु से नहीं डरता हूँ। मैं दक्षिणदिक् के यमालय को नहीं जाऊँगा, पश्चिम दिक् के वरुणालय को भी नहीं जाऊँगा। गौरदेश में ही रहुँगा।

निरमल गौर प्रेमरस सिञ्चने पूरल सब मन आश।
सो प्रभु चरणाम्बुजे रति नाहि होओल रोयत वैष्णवदास॥

इति श्रीवैष्णवदासानुदास

ऋग्वेद में श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन यज्ञ का विवरण

ओं पदं देवस्य नमसा व्यन्तः, श्रवस्यवश्रव आपन्नमृक्तम्।
नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि, भद्रायान्ते रणयन्त संदृष्टौ ओं तत्सत्॥
(ऋक् ६।१।४, तै. आ. ३।६।१०।२, नि. ४।१९)

अनुवाद— 'देवस्य' परमपूज्य लीलामय आपके 'पदं' स्वरूप को अथवा श्रीचरणकमल को, अथवा श्रीनामात्मक शब्द को 'नमसा' नमस्कार के द्वारा 'व्यन्त' अनेक प्रकार से व्यक्तकारी हम सब 'संदृष्टौ रणयन्त' उसको निर्णय करने में विवादरत हैं, अथवा परस्पर कीर्त्तनरत होकर सम्यक् निर्णय होने पर 'अन्ते' उनपर निष्ठा प्राप्तकर 'भद्राय' आत्ममङ्गल के लिए 'संदृष्टौ' आपके साक्षात् दर्शन के लिए 'यज्ञियानि चित्नामानि' यज्ञोपयोगी आपके चिन्मय नाम समूह का ही 'दधिरे' निश्चित रूप से आश्रय किये हैं। 'अवश्रवे' चारो ओर से श्रीनाम ध्वनि के सुनने पर 'श्रवसि' श्रवण कीर्त्तन में 'आपन्नानां' यशगानकारी भक्तवृन्द का 'मृक्तम्' चित्तदर्पण मार्ज्जित होता है एवं उससे जगत् पावनी शक्ति मिलती है। 'ओं तत् सत्' कारण श्रीभगवन्नाम ही परब्रह्म स्वरूप है, नाम एवं नामी अभिन्न हैं। चिर सत्य यह माहात्म्य विशेष है।

घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः।
वयं नाम प्रब्रवाम घृतेनास्मिन् यज्ञे धारयाम नमोभिः॥

(नारायणोपनिषत् १२)

'घृतस्य नाम' स्वप्रकाश रसराज व महाभावस्वरूप श्रीभगवान् के युगल नित्यसिद्धनाम 'यत् गुह्यं अस्ति' जिनका वर्णन समस्त शास्त्रों में गूढ़ रहस्य रूप में है, 'तं देवानां जिह्वा' वह नाम समूह भक्तवृन्द की जीभ— मुँह में स्थित नाम का आस्वाद ग्रहणकारी रसना, नाम के साथ तन्मयता को प्राप्त

होती है, और 'अमृतस्य नाभिः' मोक्ष का केन्द्र है। 'वयं' हम सब 'घृतेन' स्नेह अनुराग के साथ (नाम प्रव्रवाम) श्रीहरिनाम संकीर्त्तन करेंगे। (अस्मिन् यज्ञे) इस संकीर्त्तन यज्ञ में (नमोभिः धारयामः) असंख्य प्रणति एवं शरणागति के साथ श्रीहरिनाम का आश्रय ग्रहण करेंगे।

ओं तमु स्तोतारं पूर्व्वं यथाविद् ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्त्तन।
ओं आस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन महस्ते विष्णवे सुमतिं भजामहे॥

(ऋक् १।१५६।३)

'ओं' आश्चर्य में पड़कर निश्चित रूप में कह रहा हूँ– 'तं' वह प्रसिद्ध भगवान् श्रीकृष्ण का 'स्तोतारः' स्तव करें। किस प्रकार स्तव करेंगे? 'यथाविद' जिस प्रकार जानते हैं उसी प्रकार, उनका स्तव करने के लिए कुछ भी नियम नहीं है। किस रूप का? 'पूर्वं' पुरातन अवतारी रूप का, 'ऋतस्य गर्भं' वेद का तात्पर्य्य रूप अन्तर्निहित ब्रह्म का सार स्वरूप सच्चिदानन्द विग्रह श्रीगोविन्ददेव का। इसके बाद 'जनुषा पिपर्त्तन' जन्मों को सार्थक करें। अथवा उन स्वच्छन्द लीलामय परमपूज्य को मत्स्यादि अवतार के साथ परिपूर्णरूप से वर्णन करें। और भी कहता हूँ– 'अस्य नाम' अनन्ताद्भुत महिमा प्रकटकारी उन परमेश्वर के नाम का भी 'आ विवक्तन' संकीर्त्तन करें। 'जानन्तः' हे सुधी व्यक्तिवृन्द! श्रीनाम का अवधारण सब प्रकार से करें। 'विष्णो' हे विष्णु! हम सब आपका स्तव करने में एवं तत्व जानने में अक्षम हैं, केवल 'ते' तुम्हारे 'सुमतिं भजामहे' सहज साध्य पराविद्यावधू जीवनस्वरूप नाम का ही भजन करेंगे। उन श्रीनाम का स्वरूप क्या है? 'चित्' ज्ञानस्वरूप, 'महः' सर्व्ववेद, सर्वसाधन, सर्वसाध्य, सर्वजगत् प्रकाशक परमानन्द ब्रह्म स्वरूप है। अतएव 'नाम विवक्तन' श्रीहरिनाम कीर्त्तन करते करते 'नाम यजामहे' श्रीहरिनाम का ही भजन करेंगे। कारण श्रीहरिनाम ही एकमात्र साध्य, साधन व भजनीय हैं।

भगवत् तत्त्व प्रकाशक शास्त्र समूह दो प्रकार से विभक्त हैं–

(१) श्रीशिव– आगम– कल्प, यामल, रहस्य, पञ्चरात्र, तन्त्र, संहिता, तन्त्रभागवत।

(२) श्रीब्रह्मा– निगम– वेद, स्मृति, पुराण, श्रीमद्भागवत।

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

॥श्रीश्रीमन्त्रभागवतम् ॥

उपक्रमणिका

सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्तद्विष्णोः परमं पदम्।
प्राप्तुं मन्त्रेषु गोपाल-विष्णोः कर्माणि पश्यतः ॥१॥

ऋक् १।२२।१९,२०

ननु सत्यादिलक्षणमखण्डैकरसं विष्णोः परमं पदं पदनीयं स्वरूपं चेन्निरवद्यम्, तत्र विद्यावत् विषयाणि कर्माणि न सम्भवन्ति। नितरां विक्रियापराणां मन्त्राणां तत्प्रकाशन मन्त्राणां तत्प्रकाशन परत्वं न तु मान्त्रकर्मावगत्या परमपदप्राप्तिः सम्भवतीत्ययोगोऽयं नियोग इति चेत्, सत्यम्। सन्ति परमात्मनः पञ्चरूपाणि, भू बीजाङ्कुर तरु फलोपमानि— शुद्ध, शबल सूत्र विराड् विष्णु देवता संज्ञानि। तत्र भूमेर्बीजादय इव शुद्धाच्छबलादयो नातिरिच्यन्ते। तथा विपक्षे परिणतानेक बीजगर्भ फलमिव विराजित विष्णुरनेकशवलगर्भोऽस्ति। स च कारणत्वात् मूर्त्तत्वात् चानेक ब्रह्माण्डाश्रयो धरोद्धरणादि अनेक कर्माश्रयश्च, तस्यर्कसाम च गेयस्य रूपम्। विभ्रदिमामविन्दत् गुहेत्यादि श्रुतिभ्यः। ''अथ य एषोन्तरादित्यो हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः'' इत्यादिना प्रागुक्तस्य इयमेवर्गग्निः साम वागेव प्राणः सामेति च। पृथिव्यादि प्रपञ्च ऋक् सामे गेष्णौ अङ्गुष्ठौ पर्वणी यस्य वराहस्य इमां पृथिवीमित्यादि पदनामर्थः सोऽयं विष्णुर्नित्यसिद्ध ईश्वरः। अन्ये तु तदाराधन सिद्धाः इन्द्राद्या ईश्वराः शलाटव इव फलभावं प्राप्ताः। अपक्व ते च सर्वे सर्वेश्वरा इति श्रुयत् श्रुयन्ते। एते एव समाः सर्वे अनन्ता इति। तत्र बहूनां सर्वेश्वरत्वासम्भवादेक एवायं गोत्वादिवज्जलचन्द्रवत् वा प्रति दैवतं परिसमाप्त इति स्वधर्मैरिव देवताधर्मैरपि स्तूयते। उपहितेषु प्रतिबिम्बेषु उपाधिधर्मी अन्वय

दर्शनात्। न तूपाध्यभिमानिनी देवता स्वधर्मैरिव ब्रह्मधर्मैः स्तोतुं शक्या, उपाधावुपहित धर्मान्वये तत्तत् स्वरूपलोपप्रसङ्गात्। गच्छतीव घटाकाशो घटे गच्छति इत्युच्यते घटाकाशस्य नैस्पश्यं घटेऽस्तीति तु दुर्वचम्। यथा चाहुः समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्। विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् इति। अयमत्रसंग्रहः— एकैकस्मिन् यथादर्शे प्रसादो मुकुरान्तरैः । सहितो दृश्यते देवेष्वेवं लोकः सुरान्तरैः ॥१ ॥

अनुवाद— जो सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप है, वह ही भगवान् श्रीविष्णु का परम पद है, उस परमपद प्राप्ति के लिये निखिल मन्त्रों में गोपाल विष्णु के अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के कर्मनिचय अर्थात् लीला-माहात्म्य का दर्शन करो।

यदि कहो कि, सत्यादिलक्षणयुक्त अखण्डैकरस विष्णु के परम पद को पदनीय रूप से ग्रहण करने से दोष नहीं होगा, किन्तु उसमें विद्यावत् कर्म समूह का रहना सम्भव नहीं है और मन्त्र समूह यज्ञादि क्रियापर हैं, उन कर्म प्रकाशक मन्त्र समूह का कर्म प्रकाशकत्व सिद्ध होता है किन्तु मन्त्र सम्बन्धीय कर्मावगति के द्वारा परमपद प्राप्ति की सम्भावना नहीं है, अतः पूर्वोक्त पद प्रयोग करना नितान्त अयुक्त है।

ऐसी आशङ्का नहीं हो सकती है। उक्त पद प्रयोग सुसङ्गत है। भूमि, बीज अङ्कुर तरु और फलों की भाँति परमात्मा के भी शुद्ध, शबल, सूत्र, विराट, विष्णु देवता नामक पाँच रूप हैं। उसमें से भूमि से बीजादि जिस प्रकार अतिरिक्त अथवा सम्बन्धातीत रूप से विवेचित नहीं होता है तद्रूप शुद्ध से शबलादि का भी अतिरिक्त बोध नहीं होता है। अतः वादी के उत्तर में कहा जाता है कि सुपक्व अनेक बीजगर्भ फल की भाँति विराट विष्णु भी अनेक शबल गर्भ हैं। आप कार्य कारण रूप में निखिल ब्रह्माण्ड का आश्रय, एवं पृथिवी उद्धार प्रभृति अनेक कर्मों का आश्रयस्वरूप हैं। ऋक् साम उनके ही गेय रूप हैं। आप निखिल विश्व का भर्त्ता एवं ज्ञाता हैं। श्रुति वाक्य से इसे भी जाना जाता है।

अनन्तर आदित्य मण्डल में जो हिरण्मय पुरुष दृष्ट होता है, उनके केश श्मश्रु हिरण्यमय ज्योतिर्मय हैं, श्रुतिवाक्य में पूर्वोक्त परम पुरुष का बोध

होता है। ऋग्वेद तेजः स्वरूप एवं सामवेद उनका वाक्य एवं प्राणस्वरूप है। जिन वराहदेव के अङ्गुष्ठ पर्वद्वय पृथिव्यादि प्रपञ्च हैं, यह साम ऋक् वेद में वर्णित है, वह आप विष्णु नित्यसिद्ध परमेश्वर हैं। इन्द्रादि ईश्वर उनके साधनसिद्ध हैं, अपक्व फल की भाँति केवल फलभाव प्राप्तमात्र।

श्रुति में सबको सर्वेश्वर कहा गया है 'ते च सर्वे सर्वेश्वराः' अतः सब देवता सर्वेश्वर हैं? उत्तर– अनेक सर्वेश्वर होना सम्भव नहीं है, गोत्व जलचन्द्रवत् सबके प्रतिनिधिरूप एक ही सर्वेश्वर हैं, एक चन्द्र अनेक जगह प्रतिबिम्बित होता है, विष्णु भी देवताओं में प्रतिविम्बित होकर अद्वितीय सर्वेश्वररूप में विराजित हैं। इस प्रकार स्वधर्म की भाँति देवताधर्म के द्वारा भी आप संस्तुत होते हैं। कारण उपस्थित प्रतिविम्ब में भी उपाधि धर्म का सम्बन्ध दृष्ट होता है, किन्तु उपाधि में उपहित धर्म का अन्वय होने से भी स्वरूप का लोप होता है अतः देवतागण ब्रह्म धर्म के द्वारा स्तुत नहीं होते हैं, अर्थात् औपाधिक धर्म विशिष्ट कहकर उनको ब्रह्म कहकर स्तव नहीं किया जाता है। तभी गतिशील के न्याय 'घटाकाश घट में गमन कर रहा है' कहने से जिस प्रकार घट में घटाकाश का कोई सम्पर्क नहीं है ऐसा कहना असंगत है। अतः देवतागण के साथ भगवान् का सम्पर्क मात्र है। समारोप्य के कारण विषय रूपवान् होता है। विषय रूप से नहीं। एक दर्पण में जिस प्रकार निर्मलता दृष्ट होती है, अन्यान्य दर्पण में भी उस प्रकार नैर्मल्य दृष्ट होता है। इससे लोक भिन्न-भिन्न देवतागण के साथ समस्त देवतागण में ही एक ही श्रीभगवान् के विम्बानुविम्ब का दर्शन करते हैं॥१॥

तस्मात् स्युर्देवताः सर्वाः प्रत्येकं विश्वयोनयः।
अन्योन्य योनयश्चैव यथा यास्कमुनीरिताः॥२॥

अनुवाद- इसलिये यास्क मुनि ने बोला- निखिल देवता के प्रत्येक देवता ही विश्वयोनि है, अर्थात् विश्व की उत्पत्ति के कारण है। एवं अन्यान्य योनि है, अर्थात् परस्पर की उत्पत्ति का कारण है॥२॥

यत् किञ्चित् दैवतो मन्त्रो विष्णु लीलोपवृंहितः।
वैष्णवः स यतो विष्णुः सर्वदैवतनामभूत्॥३॥

ऋचां दशतयीस्थानां प्रायः शास्त्रेषु संग्रहः।
स्तुतशास्त्रनयात् सर्वं स्तुतौ शास्त्रं प्रतिष्ठितम्॥४॥

दशमण्डलान्यवयवा यस्याः सा दशतयी वहवृ चः सन्ति। तासां तत्रस्थानामृचां शास्त्रेषु अप्रगीतमन्त्रसाध्येषु देवता स्तवनेषु प्रायेण विनियोगोऽस्ति। वाचस्तोमाख्ये सर्वासामप्यृचां शास्त्रेषु विनियोगदर्शनात्, यावतीः कामयेत् तावतीः शंसेदिति, स्तुतेति, त्रिविधा मन्त्राः— क्रियास्मारका यागकारका देवतास्तावकाश्चेति, तत्रेषेत्वेति शाखामाच्छिनत्ति उर्जेत्वेत्यनुमार्ष्टीति श्रौत विनियोगात्॥

इषेत्वादयो मन्त्राः शाखाच्छेदनादीनां क्रियाणां स्मारका इति करणमन्त्राः इत्युच्यन्ते॥ अतएवावघातादिकाद् दृष्टार्थतयाग्नयेऽनुब्रीहि अग्नि यज, ये यजामहे अग्नि नमित् यज्ञके यष्टव्यदेवतासङ्कीर्त्तने पठ्यमाना अग्निमूर्द्धा भुवोर्यज्ञस्येत्यादयस्ते पत्नीक्रियास्मारकाः। उदाहृत शब्दैरेव तस्याः स्मृतत्वात् संस्कारकाः एव, एवं चैतन् मन्त्रपाठ पूर्वकं कृतो यागः संस्कृतः सन् अपूर्व जनने समर्थ्यो भवति, तद् यथा तेनैते मन्त्रा या गाङ्गभूता अप्यवद्यातादिवन्-नादृष्टार्थाः। अपि तु प्रोक्षणीयादिवददृष्टार्था एव, ये तु आज्यैः वते वृष्टेः स्तुवते प्र उ गशंसतीत्यादि विधिविहिताः गीतमन्त्र साध्यस्तवनरूपा स्तोत्र शास्त्रार्थाः, तेऽपि तत् क्रियाङ्गभूताः अपि स्वतन्त्राः। यथाग्न्यादीनां प्रणामपूर्वार्थत्वेऽपि मिथो नाङ्गाङ्गिभावः एवं सोमयाग स्तोत्र शास्त्राणामपि समुचितानामेकफलार्थत्वेऽपि मिथो नाङ्गाङ्गिभावः प्रयाजदर्शपूर्णमासवत्॥ तथा च सूत्रम्— अपिवा श्रुति संयोगात् प्रकरणे स्तौति शंसति क्रियासती विदध्यातामिति, तदेतदाह— स्तुत शास्त्रनयात् सर्वं स्तुतौ शास्त्रं प्रतिष्ठितमिति॥४॥

अनुवाद—देवता विषयक मन्त्र समूह-भगवान् श्रीविष्णु की लीला सूचक एवं परिपोषक है, वैष्णव-अर्थात् विष्णु विषयक है। कारण, एकमात्र भगवान् विष्णु ही सब देवता के नाम से विभूषित होते हैं॥३॥

जो दशमण्डल विशिष्ट है, उसे दशतयी कहते हैं। सुतरां वह शब्द ऋग्वेद का ही सूचक है। इस ऋग्वेद में अनेक ऋक् हैं। शास्त्रे, अर्थात् अप्रगीत मन्त्र साध्य देवता स्तवन में प्रायशः उसका विनियोग होता है। कारण वाचस्तोमाख्य सूक्त में जो ऋक् है, वे सब ऋक् ही देवता स्तवन में विनियुक्त

है। भावत् का मना करोगे, तावत स्तुति करनी होगी। मन्त्र समूह त्रिविध है। क्रिया स्मारक, यागकारक, देवतास्तावक, जैसे "इषे त्वा" शाखाछेदन का मन्त्र है, "उर्द्धे त्वा" शाखा संनमन का धूलि अपसारण का मन्त्र है। इस श्रौत मन्त्र विनियोग से प्रतीत होता है कि "इषेत्वादि" मन्त्र शाखा छेदनादि क्रिया का स्मारक होने से करण मन्त्र से अभिहित होता है।

याज्ञिक समूह आलस्य वशतः धान्यादि के स्थान में तण्डुत अवघात के समय मन्त्र पाठ न होने पर भी मन्त्र समूह का प्रयोग दृष्ट होता है। अग्नाय अनु ब्रुहि। आग्नेयज, ये यजामहे अग्नि एवं सामं यहो यज्ञार्द देवता सङ्कीर्त्तन में जो मन्त्र पठित है "अग्निर्मूर्द्धा भूवोर्यज्ञस्य" अग्नि ही भू यज्ञ के मस्तक स्वरूप हैं, इत्यादि मन्त्र समूह पत्नी क्रिया स्मारक है। उदाहृत शब्द समूह द्वारा उक्त क्रिया समूह स्मृति पथ में जागरुक होती है, अतः वे सब संस्कारक तुल्य हैं।

इस मन्त्र पाठपूर्वक अनुष्ठित याग संस्कृत होकर अपूर्व फल प्रदान में समर्थ है, इससे बोध होता है कि- यह सब मन्त्र यज्ञाङ्गभूत होने पर भी अवघातादि के समान अदृष्टार्थ व्यञ्जक नहीं है। परन्तु प्रोक्षणीयादिवत् अदृष्टार्थक है। जिस शब्द का अर्थ प्रत्यक्षसिद्ध है, उसे दृष्टार्थक-सिद्धार्थक कहते हैं। एवं जिसका अर्थ अदृश्य अर्थात् दर्शन विषयी भूत नहीं है, उसका नाम अदृष्टार्थक अर्थ का विध्यर्थक है।

"आजैः वते वृष्टेः स्तुवते" "प्र उ ग शंसति" इत्यादि विधि विहित गीतमन्त्र साध्य स्तवन ही स्तोत्र है, एवं अप्रगीत मन्त्र साध्य स्तवन ही शास्त्रार्थ वाचक है, उक्त स्तोत्र समूह शास्त्र क्रियाङ्गभूत होने पर भी स्वतन्त्र है। जिस प्रकार, अग्नि देवादि का प्रणाम यज्ञीय विधि रूप में गृहीत होने पर भी परद्याव अङ्गाङ्गि भाव विशिष्ट नहीं है, एवं सोम याग में स्तोत्र भी शास्त्र मन्त्र समूह के एक फलोद्देश में प्रयोग होने पर भी प्रयाज दर्शपूर्णमास याग के समान उसके परस्पर अङ्गाङ्गि भाव नहीं है। इसमें सूत्र है। "अपिवा श्रुति संयोगात् प्रकरणे स्तौति शंसति क्रियासतो विदध्यातामिति" अर्थात् श्रुति के साथ संयोग होने से स्वस्वप्रकरण में स्तुति एवं शास्त्र - किसी एक प्रधान क्रिया का विधायक होते है। "अपि, वा" शब्द स्तुत, शास्त्र शब्द की देवता, प्रकाश रूप संस्कार कर्मत्व द्वारा ब्यावर्त्तित है। एतज्जन्य ही कथित है, "स्तुत शास्त्रनयात् सर्वं स्तुतौ शास्त्रं

प्रतिष्ठितम्। अर्थात् स्तुत एवं शास्त्रनोति के निमित्त ही उक्त मन्त्र समूह संगृहीत हैं, एवं स्तुति में ही शास्त्र प्रतिष्ठित है, सोमयाग एवं अग्निष्टोम याग में द्वादश प्रकार शास्त्र मन्त्र हैं। प्र उ ग उसके अन्यतम हैं। शास्त्र मन्त्र के पूर्व में स्तोत्र मन्त्र का पाठ करने का विधान है॥४॥

ऋगारूढ़ानि सामानि तुर्य्यो वेदोऽपि ऋग्मयः।
यजूंष्यगनुगान्येव सर्व्वस्तुत्यो जनार्द्दनः॥५॥
अविरोधादपूर्वधाद् देवता निग्रहादिकम्।
मन्त्रार्थवाद प्रामाण्यान् मनुते वादरायणः॥६॥

अविरोधादिति– विरोधे गुणवादः स्याद् अनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानाद् अर्थवादस्त्रिधा मतः॥ यजमानः प्रस्तरः इत्यादिर्हि गुणवादवत्, यजमानः प्रस्तर इति गुणवादमात्रो गुणात् प्रतीयमानस्य यजमान प्रस्तरयोरभेदस्य प्रत्यक्षतो विरोधात्। अग्निर्हिमस्य भेषजम् इत्यादिरनुवादः। तदर्थस्य लोकेऽवधृतत्वात्। मेधातिथिं कथगयनं मेषो भवेंशेजाहारेत्यादि विरोधानुवादयोरभावाद् भूतार्थवादोऽयम्। विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्य्यञ्च प्रसन्नता, फलप्रदातत्वमपि विभूतिः परमेश्वरे इति, पञ्चकं विग्रहादिकम्। जगन्माता दक्षिणामिन्द्र हस्तं अद्दीदिन्द्र प्रस्थिते मा हर्वीषि। इन्द्रादिव इन्द्र ई पृथिव्याः तस्मादिन्द्रः स्तूयमाः प्रोतो मनसा हिरण्यरथः ददाविति॥६॥

अनुवाद- ऋक् मन्त्र समूह सन्निविष्ट होने से सामवेद एवं चतुर्थ अथर्ववेद भी ऋङ्मय यजुः ऋक्वेदक ही अनुगत है, अतएव भगवान् जनार्दन सकल वेद के द्वारा स्तुत हैं॥५॥

अविरोध एवं अपूर्वत्व हेतु व्यासदेव देवता विग्रहादि में मन्त्रार्थवाद प्रामाण्य का निश्चय किए हैं॥६॥

अर्थवाद-त्रिविध, विरोध में गुणवाद, अवधारण में अनुवाद, उसके अभाव से भूतार्थवाद है, यजमान प्रस्तर, यह गुणवाद है, कारण गुण से प्रतीयमान-यजमान के साथ प्रस्तर के अभेद का प्रत्यक्ष विरोध दृष्ट होता है, अग्नि हिम की औषध है, यह अनुवाद है, कारण इसका अर्थबोध सहज रूप से होता है। मेधातिथिं कथगयनं मेषे भवेंशे जाहार" इत्यादि वाक्य में गुणवाद

एवं अनुवाद का अभाव हेतु वह भूतार्थवाद है। परमेश्वर में विग्रहादि पञ्चविभूति विराजित हैं। यथा विग्रह, हवि का भोग, ऐश्वर्य्य प्रसन्नता फल दातृत्व है। इसमें श्रुति प्रमाण इस प्रकार है, यथा जगन्माता दक्षिणामिन्द्र हस्तं अद्दीदिन्द्र प्रस्थिते मा हर्षीषि" इत्यादि। अर्थात् जगन्माता दक्षिणा को इन्द्र के हस्त में प्रदान करेंगे। इन्द्र प्रस्थान करने से होम न करें। इन्द्र ही स्वर्ग है, इन्द्र ही पृथिव्यादि लोक है, एतज्जन्य इन्द्र स्तूयमान होते हैं, वह प्रसन्न मन से हिरण्य रथ प्रदान करते हैं॥६॥

अर्थवाद समुन्नीत विधिमुख्याद् विधेर्बली।
श्रुतं ह्यश्वेष्टिरुत्सृज्य कर्त्तारं कल्पमृच्छति॥७॥

अर्थवादेति। प्रजापतिर्वरुणायाश्वमानयेत्। स स्वां देवतां प्रार्थयते सपर्य्यदीयते स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्। इत्यर्थवादपदश्रवणे अश्वदातुर्वारुणीष्टिः प्रतीयते। यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणां श्चतुष्कशालान् निर्वपेत् इति विधिवशात् प्रतिगृहीतुः सा प्रतीयते। तत्रासंजात विरोधात् अर्थवादादूर्द्धा श्रुतसंजातविरोधित्वात् विधिवाक्यमेव यावतोऽश्वान् प्रतिग्राहेदिति परेणानेन पूर्वोक्तोपक्रान्तेनैकवाक्यता नीयत इति सिद्धान्तः॥७॥

अनुवाद- अर्थवाद समुन्नीत विधि-मुख्यविधि की अपेक्षा से बलवती होती है। कारण श्रुति में दृष्ट होता है कि अश्वेष्टि याग, कल्प कर्त्ता को अर्थात् यज्ञीय विधिकर्त्ता को अतिक्रम करता है।

प्रजापति वरुण के अश्व को लाए थे। वह दिक् देवता की प्रार्थना किए थे एवं पूजा किए थे। उससे वरुण को चतुष्कपाल अर्थात् मण्डप रक्षक रूप में दर्शन किए थे। इस अर्थवाद वाक्य को सुनकर अर्थदाता की वारुणीष्टि की प्रतीति होती है। यावत् अश्व समूह का प्रतिग्रह करेंगे, तावत् वारुण गण को चतुष्कपाल रूप में निर्वपण अर्थात् यज्ञ में उनके उद्देश्य से हविर्दान करें। इस विधि से प्रतिग्राही की उक्त अश्वेष्टि प्रतीति होती है। इसमें विरोध उपस्थित न होने से अर्थवाद के ऊपर भी श्रुति सञ्जात विरोध वाक्य होने पर भी यह विधि वाक्य है। यावतोऽस्वान् प्रतिग्राहदित्यादि, इस परवर्त्ती विधि वाक्य के साथ पूर्वोक्त उपक्रान्त विषय की एकवाक्यता अवश्य ग्रहणीय है, यह ही सिद्धान्त है॥७॥

महाभाग्यादेवताया इत्युपक्रम्य प्रकृति सार्वनाम्याच्चेतरेतर जन्मानो भवन्तीतरेतर प्रकृतय इति यास्कः। यो देवानां नामधा एक एव। अतितेर्दक्षौ अजायत दक्षणददितिः। परोतिश्रुतयश्चैतमर्थं दर्शयन्ति। तस्मात् सिद्धं सर्वेषां मन्त्राणां विष्णुपरत्वम्। क्रियापरत्वं तेषामुपचारात्। तद्गत ब्रह्मलिङ्गानां क्रियाङ्गे सामञ्जस्येनान्वयायोगात्।

तथाहि, अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्, होतारं रत्नधातममित्यत्र मन्त्रे क एकस्यैवाग्ने स्तुतिकर्मणः यज्ञं प्रति पुरोहितम् इत्यनेनाहवनीयादिरूपेण अधिकरणत्वं देवमित्यनेन सम्प्रदानत्वमृत्विजमित्यनेन करणकारकत्वं होतारमित्यनेन कर्त्तृकारकत्वं रत्नधातममित्यनेन फलदातृत्वं चोक्तम्, नचैतत् विशेषणजात सामञ्जसेन ज्वलने तदभिमानिन्यल्पेश्वरे वा सम्भवति। न हि सर्वस्मिन् यज्ञे सम्प्रदानत्वं मुख्यं फलप्रदत्वं वा मुख्यमीश्वरमुक्त्वान्यस्यास्ति, तथा होतारम् ऋत्विजमिति सामानाधिकरण्ये होतारमित्यनर्थकं स्यात्। तेनैव च होतुरपि लाभात् होतृपदं यजमानपरमेवेत्युचितम्, ततश्च सार्वात्म्य-धर्मेणानुग्राहकत्वधर्मेण चाग्न्युपाधिकोमुख्य ईश्वरः एवात्र स्तुवो भवति मुख्यया वृत्त्या। एवमदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षमित्यादावप्यदित्यादि विग्रहोपाधिकस्य ब्रह्मण एव सार्वात्म्यं सिद्धमेव कीर्त्तते। नत्वभूतमदिति स्तुत्यर्थमुपन्यस्यते यजमानः प्रस्तर इत्यादि अर्थवादवत्। अन्यथा मन्त्रणामर्थवादानां चाविशेषापत्तिरिति दिक्॥

अनुवाद- यास्क कहते हैं, - जो सर्वनाम वाच्य हैं, उन परम पुरुष से ही महाभागा देवतागण की एवं इतरेतर निखिल जीव की सृष्टि हुई है। वह परम पुरुष ही देवगणों के नाम ध्येय रूप में एक हैं। जिस प्रकार अदिति से दक्ष उत्पन्न हुए हैं, सुतरां दक्ष से अदिति परा है। उस प्रकार श्रुतिगण भी उस प्रकार अर्थ प्रदर्शन करती हैं, उन सबके क्रिया परत्व औपचारिक अर्थात् व्यवहारिक मात्र हैं। क्योंकि उक्त मन्त्रगत ब्रह्मलिङ्ग की क्रिया के अङ्ग में सामञ्जस्य रूप में अन्वय अथवा सम्बन्ध योग दृष्ट नहीं होता है। यथा अग्निमीले पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारम् रत्न धातमम्। इस मन्त्र में अग्नि की स्तुति कर्म अधिकरणत्व है। मन्त्र दानत्व, करणत्व कर्त्तृत्व फल दानत्व कथित है, यहाँ प्रति पुरोहितं इस वाक्य में हवनीयादि रूप में अधिकरणत्व, "रेवं" वाक्य से सम्प्रदानत्व, ऋत्विजं, वाक्य से करणकारकत्व, "तोतारं" वाक्य से

कर्त्तृकरकत्व एवं रत्न धातमम् वाक्य से फल दातृत्व सूचित है। यह सब विशेषण सामञ्जस्य के सहित अनल किन्वा अभिमानी सामान्य ईश्वर में सम्भव नहीं है। कारण- सकल यज्ञ में अग्नि का सम्प्रदानत्व-अथवा मुख्य फल प्रदत्व नहीं है, परन्तु मुख्य ईश्वर होने से दूसरे का है। होता, ऋत्विक् वाक्य द्वय के सामानाधिकरण में "होता" पद अनर्थक हो जाता है। वस्तुत: ऐसा नहीं है। तद् द्वारा होता का लाभ होता है, अत: इस स्थल में होतृ पद, यजमान पर होना सङ्गत है, अतएव मुख्य वृत्ति से सार्वात्म्य धर्म, अनुग्राहकत्व धर्म के द्वारा अग्नि उपाधिक मुख्य परमेश्वर ही स्तुत होते हैं। इस प्रकार अवितिर्द्योरदिति रञ्जयि क्षमिति आदित्यादि विग्रहोपाधिक ब्रह्म की सर्वात्मता सिद्ध होती है, फलत: अर्थवाद के समान "यजमान: प्रस्तर:" इत्यादि वर्त्तमान अदिति की स्तुति की जाती है इस प्रकार अर्थ नहीं हो सकता है। अन्य प्रकार अर्थवेत्ताओं को उसमें विशेष आपत्ति नहीं है।

एवमप्याधानगते विशेष सौविष्टकृत्यां संयाज्यायां विनियुक्तो मन्त्र: ब्राह्मणविद्भिरग्निदेवतापरतयैव व्याख्यात: कर्मसमृद्ध्यर्थम्। तत्र च नासङ्कोचेन विशेषणानामन्वय इत्यर्थ एव विदां कुर्वन्तु। एवं इषेत्वेति मन्त्रेपि इषे इतीष्यमाणार्थं लाभार्थत्वेति प्रतिपादिकांशेन तत् प्रदानसमर्थं चेतनमुपक्षिपति। द्वितीया विभक्त्या तस्य उत्पाद्यत्वविकार्य्यत्व संस्कार्य्यत्वलक्षणकर्मत्वा-सम्भवादाप्यात्वमेवोच्यते। तत्रेष्यमाणभेदादभेदाच्चेत्ययमर्थ: प्रतीयेत हे कैवल्यप्रद त्वां कैवल्यार्थं कण्ठगत विस्मृतचामीकरवत् अज्ञानमात्रापगमेना-वाप्तवान् आप्तवानीति वाहे सार्वात्म्यप्रद त्वां सार्वत्म्यार्थं नदीसमुद्रवत् परिच्छेदाभिमान त्यागादाप्नवानीति वा हे सारूप्यप्रद त्वां सारूप्यार्थं कीटभृङ्गवत् ध्यानेनाप्नवानिति वा हे स्वर्गप्रद त्वां स्वर्गार्थं कर्मणा ग्रामवदाप्नवानीति वा यत् कृष्णो रूपम्।

अनुवाद- इस प्रकार आधान गत यागविशेष सौविष्ट कृति संयाज्याय जो मन्त्र विनियुक्त होता है, ब्राह्मण विद्गण कर्म समृद्धि के निमित्त उस मन्त्र की व्याख्या अग्नि देवता रूप में की है। किन्तु उसमें नि:सङ्कोच से जो विशेषण का संकोच किया गया है, इस प्रकार समझना नहीं चाहिये। 'इषेत्वा'

इस मन्त्र में "इषे" इस वाक्य में इष्यमाण अर्थ लाभ होता है, वह प्रातिपादिकांश में तत् प्रदान समर्थ वेतन को उल्लेख करता है, द्वितीया विभक्ति के द्वारा उस चेतन का उत्पाद्यत्व, विकार्य्यत्व, संस्कार्य्यत्व लक्षण कर्मत्व की असम्भावना हेतु केवल प्राप्यत्व का ही कथन हुआ है, इससे दृष्यमाण का भेदाभेद से इस प्रकार अर्थ का बोध होता है।

यथा- हे कैवल्यप्रद! आपको केवल कैवल्य के निमित्त कण्ठगत विस्मृत सुवर्णपदक के समान कभी भी प्राप्त कर नहीं सकते, किन्तु अज्ञान अपसारित होने से ही आप प्राप्त होते हैं। किम्वा हे सार्वात्म्यप्रद! नदी जिस प्रकार समुद्र में मिलित होने से उसमें परिच्छेद बुद्धि नहीं रहती है, उस प्रकार सर्वान्तर्य्यामी रूप में आपको प्राप्त करने के निमित्त परिच्छेदाभिमान त्याग होने से ही आप प्राप्त होते हैं। किम्वा हे सारूप्यप्रद! कीट जिस प्रकार भृङ्ग का ध्यान करते करते भृङ्ग सारूप्य लाभ करता है, उस प्रकार सारूप्य प्राप्ति के निमित्त आपका ध्यान ही एकमात्र कारण है। अथवा हे स्वर्गप्रद! स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त कर्म के द्वारा ही आप ग्राम के समान प्राप्त होते हो अथवा आप ही कृष्णस्वरूप हो।

इत्यत्र वक्ष्यमाणरीत्या हे शाखे शाखावच्छिन्न परमेश्वर त्वां शाखारूपं इषेन्नायच्छेदनक्रियाशाप्नवानीति वा। तत्र पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरोर्थो जघन्य इति स्व संवेद्यम्। अथापि इषेत्वेति शाखामाच्छिनत्तीति अन्नं वा इष इति च ब्राह्मण विदः हे शाखे त्वां अन्नाय च्छिनत्तीत्यतः परोक्षवृत्त्या व्याचक्षते कर्मसमृद्ध्यर्थम्। न तावता मन्त्रः स्वारसिकमर्थं जहाति। न हि कदाचन-स्तरसीत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते इत्यादाविन्द्रपदस्य लक्षणया कर्मकाले गार्हपत्योपस्थापकत्वेऽपि ऋच ऐन्द्रीत्वं विहन्यते, ऐन्द्रेत्यस्यानर्थक्यापत्तेः। तस्मान् मन्त्राणां स्वारसिकमीश्वरपरत्वम्। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीति श्रुतेस्तत्सम्मतम्। क्रियापरत्वं तु विनियोगवशाज्जघन्य प्रवृत्त्येति सिद्धम्। स एवम्भूतो विष्णुः परमकारुणिको नामभिः कर्मभिश्चास्मदादिभिरार्त्तैराहूयमानः स्तूयमानश्च सस्य विश्वरूपमर्ज्जुनादिभ्य इवेतरेभ्योप्याविष्करोति। तद्द्वारा च वैष्णवं परमं पदं सत्यादिलक्षणं आत्मीयं प्रापयतीति युक्ततरीयं नियोगो यन्मन्त्रेषु

विष्णोः कर्माणि पश्यतेति। तस्यैवं फलोपमस्य विष्णोर्नमस्यत्वं स्तुत्यत्वं च विरूपदृष्टो मन्त्रावाहतुः।

अनुवाद- इस स्थल में वक्ष्यमाण रीति के अनुसार-हे शाखे! हे शाखावच्छिन्न परमेश्वर! शाखारूपी आपकी प्राप्ति छेदन क्रिया से ही होती है। अतएव पूर्व पूर्व अर्थ की अपेक्षा उत्तरोत्तर अर्थ जो जघन्य है, यह स्वतः ज्ञात होता है। अनन्तर "इषेत्वा" इस मन्त्र का अर्थ, शाखा का छेदन सम्यक् रूप से करता हूँ। शाखा का छेदन क्यों करता हूँ? उत्तर में ब्राह्मण विद्गण कहते हैं, अन्न ही इष है, सुतरां हे शाखे! तुम्हें अन्न के निमित्त छेदन करता हूँ। अतएव कर्म समृद्धि के निमित्त परोक्ष वृत्ति से इस प्रकार कथित हुआ है। किन्तु उस हेतु मन्त्र का स्वारसिक अर्थ की हानि नहीं हुई है, अर्थात् स्वकीय रस तात्पर्य्याधिक अधिक हानि नहीं हुई है, एवं कदाच उसका व्यतिक्रम नहीं होता है। "ऐन्द्रीकर्त्तृक गार्हपत्य अधिष्ठित" इत्यादि मन्त्र में "इन्द्र" पद की लक्षणावृत्ति से कर्मकाल में गार्हपत्य में उपस्थापन संघटित होने से, ऋक्मे ऐन्द्रीत्व विनष्ट हो जाता है, सुतरां तव 'ऐन्द्र' अनर्थक रूप में आपत्तिजनक हो जाता है। अतः मन्त्र समूह का स्वारसिक-ईश्वर परत्व होना मुख्य रूप से उचित है। कारणश्रुति कहती है, सर्वेवेदा यत्पदमामनन्तीति। अर्थात् निखिल उन भगवान् के परमपद का आमनन करती हैं। यह ही सर्वसम्मत है। एवं विनियोग वशतः, मन्त्र का क्रिया परत्व होना जो जघन्य प्रवृत्ति है, वह सूचित हुई। एवम्भूत परम कारुणिक भगवान् विष्णु, नाम-एवं कर्म समूह के द्वारा हमारे समान आर्त्तजन के द्वारा आहूयमान एवं स्तूयमान होते हैं। आपने जिस प्रकार अर्जुन प्रभृति को विश्वरूप प्रदर्शन किया था, उस प्रकार उन सबको निज सत्यादि लक्षणयुक्त सर्वोत्तम वैष्णवपद प्रदान कर अत्यन्त निजजन करते हैं। अतएव "विष्णोः कर्माणि पश्यत" यह वाक्य प्रयोग अतीव युक्ति युक्त है। एतज्जन्य मङ्गलाचरण रूप में यहाँ पर उन फलोपम श्रीश्री विष्णु का नमस्कार एवं स्तुति वाचक रूप में विरूप दृष्ट मन्त्र भी अध्याहृत हो रहा है।

ॐ नमो भगवते श्रीनन्दसुताय।

श्रीमन्त्रभागवतम्

श्रीगोकुलकाण्डः

मङ्गलाचरणम्

हरिः ॐ। तं नेमिमृभवो यथाऽऽनमस्व सहूतिभिः।
नेदीयो यज्ञमङ्गिरः॥१॥

(ऋग्वेद संहितायां ६।५।२४ अष्टक। अध्याय। वर्ग, ८।७५।५ मण्डल। सूक्त। मन्त्र)

तं नेमिमिति। हे अङ्गिरः तं परमेश्वरं ऋभवो देवा यथा आनमन्ति एवं त्वमपि आनमस्व। सहूतिभिः समानैर्योग्यैराहवानै र्भो भगवन्नमस्त इत्येवं भावयेदित्यर्थः। नेदीयो नेदीयं "सुपांसुलुगिति सुपो लुक्"। सन्निहितमन्तर्यामिणमित्यर्थः। तथा च मन्त्रान्तरं अस्ति 'ज्यायान् कणीयस उपारे' इति उपारे समीपे। कीदृशं तम्। नेमिं संसारचक्रस्य कालचक्रस्य वा आद्यन्तशून्यस्यापि नेमिमिव नेमिं परिधिभूतम्। अत्र फलोपमस्य परिच्छेदकत्वे नेम्यादि दृष्टान्तः। वृक्षोपमस्य त्वाकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इत्यादि दृष्टान्तेऽनुरूप इति बोध्यम्। पुनः कीदृशम्। यज्ञं हविरातिथ्यं निरूप्यते 'सोमे राजन्यगते' इत्युपक्रम्य 'वैष्णवो भवति' विष्णुर्वै यज्ञ स्तस्मा एतद्धविरातिथ्यं निरूप्य इत्युपसंहारात् सोमाभिमानिनं यज्ञापरनामानं विष्णुम्। तेन यावान् सौम्यो मन्त्रः स सर्वोपि वैष्णव इति गम्यते॥१॥

अनुवाद— हे अङ्गिर! 'तं' उन परमेश्वर को "ऋभवः" देवगण, जिस प्रकार, 'आनमन्ति' सम्यक् रूप से प्रणाम करते हैं, उस प्रकार तुम भी "सहूतिभिः"

समान वा योग्य आह्वान के सहित अर्थात् 'हे भगवन्! आपको नमस्कार' इस प्रकार भावना के साथ उन "नेदीयां" सन्निहित अन्तर्य्यामी पुरुष को "आनमस्व" सम्यक रूप से नमस्कार करो। वह "नेमि:" संसार चक्र, काल चक्र के आद्यन्त शून्य नेमिस्वरूप अर्थात् परिधि स्वरूप हैं। यहाँ फलोपमेय परिच्छेद प्रदर्शन के निमित्त नेम्यादि दृष्टान्त हैं। वह आकाशवत् सर्वगत एवं नित्य है, यह दृष्टान्त के भी अनुरूप है। आप "यज्ञ:" हैं। यज्ञ हवि का आतिथ्य रूप से निरूपित है। "सोमे राजन्य गते" इस प्रकार उपक्रम के द्वारा "वैष्णवो भवति विष्णुर्वै यज्ञस्तस्मै एतद्धविरातिथ्यं" इस प्रकार उपसंहार होने से सोमाभिमानी यज्ञ का अपर नाम ही विष्णु है, अतएव यह प्रतिपन्न हुआ है कि– यावत् सौम्य-मन्त्र हैं अर्थात् सोम-सम्बन्धीय जितने मन्त्र हैं समस्त ही वैष्णव मन्त्र हैं, अर्थात् विष्णु सम्बन्धी मन्त्र हैं॥१ ॥

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्ठुतिम्॥२ ॥

(ऋग्वेद ६५ ।२५/८ ।७५ ।६)

तस्मा इति। तस्मै यज्ञापरनाम्ने विष्णवे नूनं निश्चितं अभिद्यवे द्यो: अव्याकृताकाशस्य जगत्कारणस्य बीजोपमस्य अभितो वर्त्तमानाय फलोपमाय भो विरूप नित्यया वाचा अपौरुषवेदरूपया सरस्वत्या सुष्ठुतिं शोभना स्तुतिं चोदयस्व प्रेरयस्व। कीदृशाय तस्मै। वृष्णे– अभिमत फल वर्षिणे॥२ ॥

अनुवाद– हे ''विरूप!'' हे मोहान्ध! जो ''नूनं'' निश्चित ही, ''अभिद्यव'' अव्याकृत आकाश के अर्थात् जगत् कारण के बीज स्वरूप के सर्वतोभाव में वर्त्तमान फल सदृश हैं "तस्मै वृष्णे" जिनका अपर नाम यज्ञ है, उन अभिमत फलवर्षणकारी विष्णु के निकट "नित्ययावाचा" अपौरुषेय वेदरूपा सरस्वती के द्वारा "सुष्ठुतिं" शोभना स्तुति "चोदयस्व" प्रेरण करो॥२ ॥

यस्मिन् विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिता।
त्रितं जूती सपर्यत व्रजे गावो न संयुजे॥
युजे अश्वा अयुक्षत नभन्तामन्यके समे॥३ ॥

ऋग्वेद ६ ।३ ।२७/८ ।४१ ।६

अथ पौरुषेयीणामपि वाचामयमेव स्तुत्य इत्याह। यस्मिन्निति, यस्मिन्नीश्वरे विश्वा विश्वानि सर्वाणि काव्या काव्यानि व्यास-वाल्मीकि-प्रभृतिभिः कृतानि भारतरामायणादीनि श्रिता श्रितानि पर्य्यवसन्नानि। एतेषां प्रतिकल्पं वर्णानुपूर्वीभेदेऽपि अर्थतो भेदाभावात् नित्यत्वमभिप्रेत्योक्तं वेदेऽपि यस्मिन् काव्यानि श्रितानीति। तत्र दृष्टान्तः। चक्रे नाभिरिवेति। यथा नाभिश्चक्रस्यैकदेशं व्याप्नोति एवं काव्यानि एनं लेशत एव वर्णयन्तीत्यर्थः। तमेतं त्रितं त्रयाणां गुणानां तनितारं मायाया अपि द्रष्टारं जूती जूत्या मत्या। ध्यानेनेति यावत्। "धृतिर्मतिर्मनीषा जुतिः स्मृतिः सङ्कल्प" इति धीवृत्तिषु जूतिशब्दस्य पाठात्॥ सपर्य्यत पूजयत॥ कम्? येन व्रजे गोकुले गावः प्रसिद्धाः न-शब्द इवार्थे। संयुजे समिति एकीभावं न युज्यत इति संयुक् तस्मै पित्रे। स हि जातकर्मणि 'आत्मा वै पुत्रनामासीति' मन्त्रं पठन्नभेदाध्यासेन पुत्रं स्पृशति। पितुः प्रियार्थं यथा गोकुले गावो रक्षिता एवं युजे सख्ये अर्ज्जुनप्रियार्थं अश्वान् तस्यैव रथे तुरगान् अयुक्षत योजितवान्। अर्ज्जुनस्य सारथ्यं कृतवानित्यर्थः। उभयत्र प्रयोजनं नभन्तामन्यके सम इति। कुत्सिता अन्यके दुःशत्रवः समे नभन्तां हिंस्यन्तामिति, 'मा भुवन्नन्यके सर्वे' इति यास्कः। अत्र युजे संयुजे पदाभ्यां अर्ज्जुननन्दावेव गृहीतुं युक्तौ। पुराणेतिहासप्रामाण्यात् व्रजादि पदान्तर-समभिव्याहाराच्चेति सहृदया एव विदां कुर्वन्तु। अत्र 'काव्याश्रिता' इत्यात्वं 'जूती' इति पूर्व सवर्णदीर्घश्च विभक्तेः सुपां सुलुगित्यनेनैव॥३॥

अनुवाद— अतः पर आप अपौरुषेय वाक्य के स्तुत्य हैं, अर्थात् ऋषि वाक्य के भी स्तुत्य हैं, इस मन्त्र से उसका विवरण कहते हैं। 'यस्मिन्' जिस परमेश्वर में ''विश्वा'' निखिल विश्व, एवं काव्यनिचय, अर्थात् व्यास वाल्मीकि प्रभृति कृत भारतरामायणादि 'श्रिता' पर्य्यवसित हैं। कल्प कल्प में उक्त ग्रन्थों में वर्णानुपूर्वी भेद होने से भी अर्थगत भेद न होने से वह नित्य है, इस अभिप्राय से कथित हुआ है कि वेद में भी उल्लिखित काव्यादि सन्निविष्ट हैं। जिस प्रकार नाभि, चक्र के एक देश में रहती है, उस प्रकार पुराणादि काव्य समूह भी उनकी लेशमात्र वर्णना करते रहते हैं। आप "त्रितं" सत्व रज तम गुणत्रय का विस्तारक एवं माया के भी स्रष्टा हैं। उनको 'जूती' ध्यान, अथवा मन से ''सपर्य्यत'' पूजा करो। धीवृत्ति में जूती शब्द का उल्लेख होने से अर्थात्

जूती शब्द से धृति, मति, मनीषा, स्मृति और सङ्कल्प का बोध होता है, अतः यहाँ जूती शब्द द्वारा ध्यान से अथवा मन से इस प्रकार अर्थ गृहीत हुआ है। उनसे ही ''व्रजे'' गोकुल में "गावः" गो समूह की ख्याति हुई है। एवं 'संयुजे' पिता, जातकर्म के समय पुत्र का स्पर्श ''आत्मा वै पुत्र नामासीति'' मन्त्र से करते हैं, तथापि इससे अभेद अध्यास होने पर भी पुत्र के साथ एकीभाव नहीं होता है, उस गोकुल में पिता नन्द के प्रिय कार्य के लिए जिस प्रकार गोपालन कर्म किये थे, उस प्रकार "युजे" सख्ये वा सख्य निबन्धन अर्ज्जुन को आनन्दित करने के निमित्त ''अश्वान्''अश्वगण को उनके रथ में ''आयुक्षत'' युक्त किये थे, अर्थात् अर्ज्जुन का सारथ्य ग्रहण किए थे। यास्क कहते हैं– नभन्तामन्यके सम" वाक्य उभय स्थल में ही प्रयोज्य हैं। अर्थात् सबकी हिंसा न करें, किन्तु कुत्सित समूह की हिंसा करें। सुतरां यहाँ पर ''युजे'' और संयुजे पदद्वय से अर्जुन और नन्दराज अर्थग्रहण असङ्गत नहीं है। पुराण इतिहासादि ग्रन्थ में इसका यथेष्ट प्रमाण है, आनुसङ्गिक ''व्रजादि'' पद उक्तार्थ का द्योतक है, सहृदय सुधीवर्ग उसकी विवेचना करेंगे ॥३ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥४ ॥

(ऋग्वेद २ ।३ ।२२/१ ।१६४ ।४६)

यो नमस्यः स्तुत्यः सर्वाश्रयश्च तस्य स्वरूपं अस्य वामीये सूक्ते मन्त्रद्वयेन दर्शयति। इन्द्रं मित्रमिति। 'यदिदं सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति' (छान्दोग्योपनिषद) वेदान्तप्रसिद्धम्। एकमद्वितीयं सत् तदेव विप्राः विद्वांसः बहुधा बहु प्रकारेण वदन्ति कथयन्ति तमेवेन्द्रं मित्रादिरूपं चाहुः। यश्च सुपर्णो गरुत्मान् दिव्यो द्योतमानः तं तथाग्न्यादींश्च तमेवाहुः। अत्र 'आहुर्वदन्ती'त्यभ्यासोऽर्थस्य भूयस्त्वं द्योतयति। अहो दर्शनीया अहो दर्शनीयेतिवत् ॥४ ॥

अनुवाद– जो नमस्य, स्तुत्य और सर्वाश्रय हैं, उनका स्वरूप इस वामीय सूक्तोक्त मन्त्रद्वय में प्रदर्शित हो रहा है। छान्दोग्य उपनिषद में उक्त है, यदिदं सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति अर्थात् यह जो परिदृश्यमान जगत् यह सत्

है। हे सौम्य! सृष्टि के पहले भी यह विद्यमान था। वेदान्त प्रसिद्ध 'एकं' अद्वितीयं 'सत्' वस्तु को 'विप्राः' विज्ञव्यक्तिगण 'बहुधा' बहु प्रकार से कहते हैं। उनको इन्द्र, मित्र, वरुण अग्नि नाम से अभिहित करते हैं। 'अथ' पुनश्च आप 'दिव्यं' द्योतमान, सुपर्ण, गरुत्मान् हैं एवं उनको ही अग्नि, यम मातरिश्वा शब्द से कहते हैं। यहाँ 'आहुः वदन्ति' वाक्य का अभ्यास अर्थात् द्विरुक्ति दोषावह नहीं है, किन्तु 'अहो दर्शनीय! अहो दर्शनीय!' इस प्रकार दृढ़ता, हर्ष, विस्मय भाव प्रकाश के समान अर्थ का अनेकत्व प्रकाश हुआ है॥४॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपोवसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त् सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवीव्युद्यते॥५॥

(ऋग्वेद संहितायां १।१६४।४७, अथर्व ६।२२।१, तै. ३।१।११८, निरुक्त ७।२८)

कृष्णमिति। यदेवं सर्वदेवतारूपं सत् तदेव कृष्णं सूर्य्यमण्डलान्तवर्त्ति। कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृति वाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्य-भिधीयते। 'यदेतदातित्यस्य शुक्लं भाः सैव ऋगथ यन्नीलं परः कृष्णं तदवमस्तत्साम, कृष्णं तमरु एशतः पुरोभाः' इति शास्त्र प्रसिद्धं सत्यानन्द-स्वरूपं भाः शब्दितं ज्योतिर्गायत्र्यामपि भर्गशब्दोदितं नियानं यान्त्यत्रेति यानं नि हीनं यानमस्य नियानं भूतलस्थायि अनुलक्ष्य सुपर्णाः शोभनपतनाः हरयः यज्ञ भागहराः सन्तो ये दिवमुत्पतन्ति क्षणमपि भूमौ न तिष्ठन्ति, तेऽपि देवा अपोवसानाः पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति श्रुतेरप्शब्दितै र्मानुषैः शरीरैराच्छादिता इत्यर्थः। आववृत्रन् कृष्णं समन्तात् गोपयादवादिरूपेणावृत्य स्थिता इत्यर्थः। वृतु वर्त्तने ज्ञस्यरन्। ऋतस्य कर्मफलस्य सदनात् भोगस्थानात् स्वर्गात्। एत्येति शेषः।। तदेव सदनं स्तौति। आदित्। अस्मादेव ऋतस्य सदनात् घृतेन जलेन पृथिवी व्युद्यते वृष्टि द्वारा क्लिन्नाक्रियते। स्वर्गवासापेक्षया कृष्णसान्निध यं श्रेय इति मत्वा सर्वे देवाः भूमौ वासमरोचयन्तेत्यर्थः॥५॥

अनुवाद— जो सर्व देवतारूप सत् हैं, वह ही श्रीकृष्ण, वह ही सूर्य्य मण्डलान्तर्वर्त्ती गायत्री का ध्येय पदार्थ हैं। 'कृषि' सत्ता वाचक शब्द है 'ण' निर्वृति वाचक है, उभय के योग से निष्पन्न कृष्ण शब्द परब्रह्म वाचक है।

शास्त्र में उक्त है, जो आदित्य की शुक्ल भा: अर्थात् ज्योति हैं वह ही ऋक् हैं। एवं जो नील हैं वह ही परम हैं, वह ही श्रीकृष्ण हैं, उनका अवम ही साम है। अतएव पुरोभाग में ज्योति स्वरूप श्रीकृष्ण का दर्शन करो। सत्यानन्द स्वरूप भा: शब्दित ज्योति ही गायत्री में भर्ग शब्द से कथित है, इस वरणीय भर्गदेव श्रीकृष्ण को "नियानं" धरा में अवतीर्ण होते देखकर सुपर्णा श्रीकृष्ण के शोभन पक्ष गरुड़ादि वाहन "हरय:" यज्ञभाग ग्रहणकारी साधु पुरुषगण एवं जो "दिवं उत्पतन्ति" केवल स्वर्ग में निवास करते हैं, क्षणकाल भी भूतल में अवस्थान करने की इच्छा नहीं करते हैं "तं" वे स्वर्गवासी देवगण भी "अपोवसाना" मानव शरीर द्वारा आच्छादित हुये थे अर्थात् मानव शरीर परिग्रह किये थे। "अप्" शब्द से जिस पुरुष अथवा मानव का बोध होता है, उसका प्रमाण "पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्तीति" श्रुति वाक्य है। इस प्रकार 'त' वे सब कर्मफल भोग स्थान स्वर्ग से मर्त्त्यधाम में आकर "आववृत्तन्" गोप-यादवादि रूप में श्रीकृष्ण को परिवेष्टन कर अवस्थित हुए थे। "आदित्" इस भोगस्थान स्वर्गधाम से ही "घृतेन" जल द्वारा, वृष्टि के द्वारा पृथिवी "व्युद्यते" क्लिन्ना होती है। सुतरां यद्यपि स्वर्ग से पृथिवी निकृष्ट धाम है, तथापि स्वर्गधाम की अपेक्षा कृष्ण सान्निध्य परम श्रेय है, इस प्रकार मानकर सकल देवता ही मर्त्त्यधाम में निवास करने के अभिलाषी हुये थे ॥५ ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्त्यं च।
हिरणमयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥६ ॥

(ऋग्वेद संहितायां १ ।३५ ।२)

नन्विन्द्रं मित्र सौर्य्याविति द्वयोरप्यनयो र्मन्त्रयो: सूर्य्य दैवत्यत्वं स्मर्य्यते। तत् कथं सूर्य्यान्तर्वर्त्ति ततोऽन्यत् सदभिधं कृष्णं वस्तु इत्याशङ्क्याह। आकृष्णेनेति कृष्णेन कृष्णशब्दितेन रजसा रञ्जकेन 'एष ह्येवानन्दयतीति' श्रुति प्रसिद्धेन सता हेतुना आवर्त्तमान: सविता देवो यातीति वदन्त्या को ह्येवान्यात् क: प्राणाद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति' श्रुत्यन्तर प्रसिद्धं सवितुश्चालकं कृष्णं रजस्तत: पृथगिति दर्शितम्, न च कृष्णेनेति रथेनेत्यस्य विशेषणं सम्भवति। व्यवहितत्वात्, कृष्णं भा इत्युदाहृत श्रुत्यन्तर विरोधाच्च। सौर्य्यत्वं त्वृचोदिवा-

कीर्त्यत्वादौपचारिकम्। लिङ्गादर्शनात्। शेषं स्पष्टार्थम्॥६॥

अनुवाद— यदि कहो कि "इन्द्रं मित्रे" उभय शब्द सूर्य्य वाचक हैं, तब उक्त मन्त्रद्वय में सूर्य्य दैवत्व अर्थात् सूर्य्य देवताभाव ही स्पष्ट है। सुतरां वह कैसे सूर्य्यान्तवर्त्ती होगा, एवं उसमें 'सत्' नामधेय कृष्णवस्तु का अवस्थान कैसे सम्भव होगा? इस प्रकार संशय के निरसन हेतु कहते हैं— ''कृष्णेन रजसा'' कृष्ण शब्दित रञ्जक द्वारा अर्थात् जो कृष्ण वर्ण धारण कर "एष ह्येवानन्दयातीति"— इस निखिल जगत् को आनन्दित करते रहते हैं, उन श्रुति प्रसिद्ध सत् स्वरूप श्रीकृष्ण कर्त्तृक "आ वर्त्तमान:" सर्वतोभावेन स्थिर अचञ्चल रूप में वर्त्तमान अथवा जो पुन: पुन: आवर्त्तित होते रहते हैं, उन "सवितादेव:" सूर्य्यदेव 'मर्त्त्यञ्च' मरणधर्मशील मनुष्यगण को 'अमृतं निवेशयन्' अमृतत्व में निवेशित कर अथवा "अमृत" शब्द द्वारा देवतागण का बोध होता है, सुतरां पुन: पुन: आगमन पूर्वक देवता एवं मनुष्य को निज निज लोक में अवस्थापित कर एवं "भुवनानि पश्यन्" निखिल लोक को प्रकाशित करते करते अथवा अवलोकन करते करते 'हिरण्मयेन रथेन' सुवर्ण निर्म्मित रथ में आरोहण कर 'आयाति' हमारे निकटस्थ यज्ञ भूमि में आगमन करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में उक्त है "को ह्येवान्यात् क: प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्"। अर्थात् वह ब्रह्म यदि आनन्द स्वरूप नहीं होते, तब इस जगत् में कौन व्यक्ति जीवन धारण करने में समर्थ होता? इससे सविता का चालक श्रीकृष्ण प्रदर्शित हुये हैं, परन्तु 'कृष्ण' पद रथ के विशेषण रूप में प्रयुक्त नहीं हो सकता है, कारण, उभय शब्द के मध्य में विशेष व्यवधान है, एवं कृष्णता इत्यादि श्रुति वाक्य का भी विरोध होता है। "ऋचोर्दिवा" इस प्रकार कीर्त्तित होने से इस मन्त्र का सूर्य्यपरत्व औपचारिक है, अर्थात् उसमें सूर्य्य का आरोप मात्र हुआ है॥६॥

यत् कृष्णोरूपं कृत्वा प्राविशस्त्वं वनस्पतीन्।
ततस्त्वामेकविंशतिधा संभरामि सुसंभृता॥७॥

(ऋक् का परिचय अज्ञात है)

अत्रैव मन्त्रान्तरमुदाहरति। यत् कृष्ण इति। हे भगवन्! यत् यस्मात्त्वं कृष्ण: सत्यानन्दस्वरूपोऽपि मायाया रूपं रूपवज्जातीयं वियदादिकं कृत्वा निर्म्माय वनस्पतीन् स्थावरं जङ्गमञ्च प्राविश: प्रविष्टवानसि। एतेन 'तत् सृष्ट्वा

तदेवानुप्राविशदि' त्यस्याः (क) श्रुतेरर्थो दर्शितः। यतः प्राविशस्ततो हेतोर्वनस्पतिभ्यः सकाशात् त्वां तदन्तः प्रविष्टं संभरामि चिन्मया एव समिध आचिनोमीत्यर्थः। सुसंभृता सम्यगाभरणवताभावेन। एकविंशतिधेत्येकविंशोऽयं पुरुष इति संख्यासामान्यादिध्मस्याप्यात्मरूपत्वं दर्शितम्। एतेन "ओषधे त्रायस्वैनं शृणोत ग्रावाणः" इत्यचेतने प्रयोजन सम्बन्धोऽपि तत्तदन्तःप्रविष्ट-चेतनाभिप्रायेण नत्वचेतनांशाभिप्रायेण इत्यपि सर्वत्र ज्ञेयम्॥७॥

अनुवाद— इस स्थल में उदाहरण स्वरूप और एक मन्त्र उद्धृत हो रहा है। यथा- हे भगवन्! 'यत्'- जिस हेतु 'त्वं' तुम 'कृष्णः' सत्यानन्द स्वरूप होकर भी 'रूपं' माया का रूप अर्थात् जिसका रूप है, उस जातीय अन्तरिक्षादि का "कृत्वा" निर्माण कर "वनस्पतीन्" स्थावर जङ्गमादि के मध्य में "प्राविश" अनुप्रविष्ट है। इस स्थल में 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' वह संसार के समस्त पदार्थों की सृष्टि कर उसमें अनुप्रविष्ट हुआ। इस तैत्तिरीय श्रुति का अर्थ उससे प्रदर्शित हुआ है। 'ततः' 'तुम', उसमें अनुप्रविष्ट हो। अतः उस वनस्पति समूह के सकाश से 'त्वां' उसके अन्तः प्रविष्ट तुम्हें "सुसंभृता" सम्यक् आभरण विशिष्ट भाव से एवं ''एक विंशतिधा'' एकविंश यह पुरुष है, इस रूप से 'संभरामि' चिन्मय स्वरूप समिध का संग्रह कर रहा हूँ। इस स्थल में "एक विंशतिधा" वाक्य से संख्या सामान्य हेतु यज्ञीय काष्ठ का भी भगवदात्मरूपत्व प्रदर्शित हुआ है। इस प्रकार "औषधे त्रायस्वैनं शृणोत ग्रावाणः" इत्यादि मन्त्र अचेतन के प्रति प्रयुक्त होने पर भी उसके अन्तः प्रविष्ट चैतन्य के उद्देश्य से ही वह प्रयुक्त हुआ है। अचेतांश के उद्देश्य से नहीं है। इस प्रकार रीति का अनुसरण सर्वत्र करें॥७॥

उत माता महिषमन्ववेनदमीत्वा जहति पुत्रदेवाः।
अथाब्रवीद्वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व॥८॥

ऋ. ४।१८।११

कुतो हेतोर्भगवान् भूमाववततारेत्यत आह। उतमातेति। माता अदितिः। पृथिवीति यावत्। द्यौः पिता पृथिवी मातेति मन्त्रवर्णात्। महिषं महान्तं इन्द्रं अन्ववेनत् अन्वविन्दत्। तस्य हितं स्ववचनं प्रकाशितवती। तदेवाह— अमी

इति, हे पुत्र! अमी देवास्त्वा त्वां जहति। गोब्राह्मण यज्ञादीनामसुरैर्भुवि भङ्गेकृते भागमलभमाना: देवा अरक्षितारं त्यक्ष्यन्तीति भाव:। अत्र इन्द्रो वृत्रं वारयति धर्म्ममिति वृत्रं असुरकुलं हनिष्यन् स्वयमशक्त: सन्निदमाह। सखे इति, हे सखे अन्तर्य्यामितया परमाप्ततम विष्णो व्यापनशीलवितरं विशेषेण सुतरां क्रमस्व अत्युत्कटं पराक्रमं कुरु। असुरान् जहीत्यर्थ: ॥८॥

अनुवाद— किस हेतु श्रीभगवान् धराधाम में अवतीर्ण हुए थे, इस मन्त्र में वह विवृत हो रहा है। 'माता' देवमाता अदिति अथवा "द्यौ: पिता, पृथिवीमातेति" मन्त्र की वर्णनानुसार माता शब्द से पृथिवी का भी बोध होता है, सुतरां देवमाता अदिति अथवा पृथिवी "महिषं" महिममय 'इन्द्रं' देवराज इन्द्र को "उत" वितर्क कर "अन्वरेनत्" निवेदन की थीं, अर्थात् इन्द्र के कल्याणकर इस प्रकार वाक्य प्रकाश की थीं, 'हे पुत्र! अमी' असुर समूह, 'देवान्' देवगण को एवं 'त्वा' तुम्हें 'जहाति' हीन अथवा अकर्म्मण्य कर रहे हैं। धराधाम में असुरगण गो ब्राह्मण एवं याग यज्ञादि की हिंसा करने से देवगण यज्ञांशलाभ में वञ्चित होकर अरक्षित का अर्थात् आश्रित का परित्याग कर रहे हैं। इसमें तुम्हारी अकर्म्मण्यता दौर्बल्य ही प्रकाशित है। "अथ" अनन्तर "इन्द्र:" देवराज 'वृत्रं' धर्मबाधाकारी असुरकुल को "अहनिष्यन्" स्वयं विनष्ट करने में अशक्त होकर "अब्रवीत्" श्रीभगवान् के निकट इस प्रकार प्रार्थना किए थे— 'हे सखे' अन्तर्य्यामी रूप में परमाप्ततम, अति निजजन, हे विष्णो!, हे विश्वव्यापी भगवन्! "वितरं" विशेष रूप से विक्रम पराक्रम का प्रकाश करो, असुरगण का विनाश करो ॥८॥

सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चित: परिभवन्ति विश्वत: ॥९॥

ऋ॰ १।३।२१/१।१६४।३६

स एवमिन्द्रेणाभ्यर्थितो विष्णुर्देवक्या उदरे योगमायाद्वारा पूर्वं सप्त-संख्यान् अर्द्धगर्भान् आवेशयदित्याह। सप्तार्द्धगर्भा इति। कालनेमि पुत्रा: षड्गर्भाख्या: ब्रह्माणमाराध्यामरत्वं प्राप्ता अपि पितामहेन हिरण्यकशिपुना पितामहं परित्यज्य देवपितामहं श्रयन्तो यूयं स्वपितुर्हस्तेनैव मरणं प्राप्स्यतेति

शप्ता: ते पाताले शयाना ब्रह्मवरदानात् स्थूलेन शरीरेणाविनष्टा अपि दैत्यशापाल्लिङ्गशरीरेणैव वाशिष्ठोदाहृतलवणवत् योगमायाबलेन जन्मान्तरं लेभिरे। तत्र च कंसीभूतेन कालनेमिना ते निहता इति हरिवंशे उपाख्यायते। तेन षण्णामर्द्धगर्भत्वम्, रामोऽपि देवक्या उदरात् सप्तमगर्भ एव योगमायया निष्कास्य रोहिण्या उदरे निवेशित इति अयमपि अर्द्धगर्भ एव। एवं सप्त अर्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो भुवनबीजभूतस्य विष्णो: प्रदिश्यत इति प्रदिक् तया प्रदिशा आज्ञाकारिण्या योगमायया हेतुतया विधर्म्मिणि विपरीते धर्मे अंशेन अमरत्वमंशेन जन्मादिभाक्त्वमित्येवं रूपेषु भूचरेषु अत्यन्त दुष्करेषु तिष्ठन्ति। एतदेवाह, ते इति। ते सप्तगर्भा: विपश्चितो ज्ञानवन्त: धीतिभि: पूर्वेषां देहानां निधानै-रवस्थापनै: परिभवन्ति साकल्येन वर्त्तन्ते, पुनश्च ते मनसा परिभुव: मनोमात्रेण साधनेन विश्वत: देहेन्द्रियादि साकल्येन सम्पन्ना: सन्त: परिभवन्ति उत्पद्यन्ते पुनरित्यर्थ:। अत्र रामविषये मनसेत्युभयत्रान्वितेति। तस्य मातृद्वयेऽपि मनोमात्रेण प्रवेशात्। स्वकर्मजदेहाभावादिति ध्येयम्॥९॥

अनुवाद— इस प्रकार इन्द्र द्वारा अभ्यर्थित भगवान् विष्णु, देवकी के उदर में योगमाया द्वारा पूर्व में सप्त संख्यक अर्द्धगर्भ को सञ्चारित किये थे। हरिवंश में इसका एक उपाख्यान है। कालनेमि के पुत्रगण 'षड्गर्भ' नाम से अभिहित हैं। उन्होंने ब्रह्मा की आराधना से अमरत्व प्राप्त करने पर भी निज पितामह हिरण्यकशिपु से अभिशप्त हुये। पितामह ने कहा— तुम सबने निज पितामह हिरण्यकशिपु मुझको छोड़कर देव पितामह का शरण ग्रहण किया है, अतएव तुम सब स्वीय पिता के हाथ से निधन को प्राप्त होओगे। इस प्रकार वे सब पाताल में अवस्थित हुए, स्थूल शरीर भी विनष्ट नहीं हुआ, क्यों ब्रह्मा से वर प्राप्त हुये थे। किन्तु दैत्य शाप के कारण लिङ्ग शरीर से ही वाशिष्ट उदाहृत लवण की भांति योगमाया द्वारा देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुये, कालनेमि ने कंस रूप से उन सबको मारा, इस हेतु उक्त षड्गर्भ अर्द्धगर्भ नाम से अभिहित है। बलराम भी देवकी के गर्भ से सप्तम गर्भ के रूप में योगमाया द्वारा निष्कासित होकर रोहिणी के गर्भ में निवेशित हुए, अतएव यह भी अर्द्ध गर्भ हैं। इस प्रकार "सप्तार्द्ध गर्भा" सप्त अर्द्ध गर्भ "भुवनस्य रेत:" निखिल भुवन के बीज स्वरूप "विष्णो:" भगवान् विष्णु की "प्रदिशा" आज्ञाकारिणी

योगमाया द्वारा "विधर्म्मिणि" असुर धर्म का विपरीत धर्म में अर्थात् देवांश में जन्मादि युक्त होकर धराधाम में अत्यन्त दुष्कर मनुष्यादि रूप में अवस्थान करते हैं। "ते" ये सप्त गर्भ समूह "विपश्चित" ज्ञानवान् एवं "धीतिभि:" पूर्व देह का निधान- अवस्थापन के द्वारा "परिभवन्ति" साकल्य में विराजित हैं। पुनश्च वे सब "मनसा" मनोमात्र साधना के द्वारा "विश्वत:" देहेन्द्रियादि सर्वावयव सम्पन्न होकर "परिभवन्ति" जन्म ग्रहण किए थे। इस स्थल में राम के विषय में "मनसा" वाक्य प्रयुक्त हुआ है, उसका अन्वय उभयत्र ही होगा। स्वकर्म जनित देहाभाव से बलराम का मातृद्वय में प्रवेश केवल मन के द्वारा ही संघटित हुआ था॥९॥

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्य्योनापरिवीतो अन्तर्व्वहु प्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥१०॥

ऋग्वेद १।३।२०/१।१६४।३२, अथर्व ९।१०।१०, नि. २।८

कृष्णान्नियानमिति भगवतो भू प्रवेश उक्त: तं विशदयति— य ईमिति, योऽयं धीधातु: ईं एनं प्रपञ्चं चकार कल्पितवान् स: अस्य एनं प्रपञ्चं न वेद, न हि जड़ं मन: स्वकार्य्यं वेदितुमलं मृदिव घटम्। यश्चाहङ्कार: ईं एनं ददर्श यो द्रष्टृत्वाभिमानी तस्मादपि नु निश्चितं हिरुक् पृथक् इत एव य एवं विधोऽहंकारस्यापि साक्षी केवल दृङ्मात्रस्वरूपं स मातुर्योना। सुपां सुलुगिति सुपो डा। योने: गर्भाशयस्य अन्तर्मध्येऽपरिवीतो अर्थात् जरायुनाऽवेष्टितो भूत्वा निर्ऋतिं भूमिं आविवेश। कीदृश:। बहुप्रजा:। अष्टोत्तरशताधिकषोड़श-सहस्रस्त्रीषु प्रत्येकं दशपुत्रान् एकां कन्यां च प्रतिस्त्रियं जनयत: स्पष्टं पुराणेषु बहुप्रजत्वम्। एतच्च 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि' त्यस्या: स्मृतेर्मूलम्॥१०॥

अनुवाद— इत: पूर्वे "कृष्णं नियानमिति" मन्त्र में जो भगवान् का धरावतरण विषय उक्त है, वह इस मन्त्र में विशद रूप से विवृत हुआ है। "य:" यह धी धातु रूप "ईं" यह निखिल संसार "चकार" रचना की है। "स:" वह, "अस्य" इस जगत् प्रपञ्च का कुछ भी "न वेद" विदित नहीं है। मृत्तिका घट रूप से परिणत होता है, अत: मृत्तिका को घट के विषय में अवगत होने का प्रयोजन नहीं है, उस प्रकार जड़ भावाच्छन्न मन को स्व कार्य जानने का

प्रयोजन भी नहीं है। पुनः 'यः' जो अहङ्कार "ई" इस प्रपञ्च का दर्शक थे, अर्थात् द्रष्टृत्व का अभिमानी थे, "तस्मात्" उससे भी "नु" निश्चय ही, "हिरुक्" पृथक्, अतएव एवम्बिध अहङ्कार का साक्षी एवं केवल दृक्मात्रस्वरूप, "सः" उन भगवान् विष्णु "मातुर्योना" जननी के गर्भाशय के "अन्तः" अभ्यन्तर में "अपरिवीतः" जरायु के द्वारा अपरिवेष्टित होकर "निर्ऋतिं" भूतल में "आविवेश" आविर्भूत हुए थे। एवं वह ही "बहुप्रजाः" अष्टोत्तरशताधिक षोड़श सहस्र स्त्री के मध्य में प्रत्येक स्त्री में दश पुत्र एवं एक कन्या उत्पन्न किए थे। इस प्रकार उनके बहुप्रजत्व का विवरण श्रीभागवत १०।९० में घोषित है। यह ही 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति' स्मृति का मूल है॥१०॥

कृष्णं त त्रम रुशतः पुरोभाश्चरिष्णवर्च्चिर्वपुषामिदेकम्।
यदप्रवीता दधतेऽगर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदुदूतः॥११॥

ऋग्वेद ३।५।७/४।७।९

कथं पुनर्मातुर्योनावाविवेशेत्यत आह। कृष्णं त एमेति। हे भूमन्! ते तव रुद्ररूपेण पुरस्त्रिस्त्रो रुशतो नाशयतः यद्वा पुरः स्थूलसूक्ष्मकारण देहान् ग्रसत स्तुर्य्य स्वरूपस्य य कृष्णं भाः सत्यानन्दचिन्मात्रं रूपं तत्तु 'एम' प्राप्नुयाम। यस्य तव एकमित्— एकमेव अर्च्चिः ज्वालावदंशमात्रं समष्टिजीवरूपं वपुषां देहानां अनेकेषु देहेषु चरिष्णु भोक्तृरूपेण वर्त्तते यत् कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्रकर्षेण वीतं गमनं यथेष्ट सञ्चारो यस्याः सा। निरुद्धगतिर्निगड़ग्रस्ता देवकीत्यर्थः। ''कृष्णाय देवकीपुत्रायेति छान्दोग्ये'' देवक्या एव कृष्णमातृत्व दर्शनात् सा स्वगर्भे दधते धारयति। दध धारणे इत्यस्य रूपम् ह प्रसिद्धम्। स त्वं जातो देव जातो गर्भतो बहिराविर्भूतः सन् सद्य इदु सद्य एव चित् निश्चितं खलु दूतो दुनोतीति दूतः मातुः खेदकरो वियोगदुःखप्रदो भवसीत्यर्थः। एतेन देवकीपते र्वसुदेवस्य गृहे जन्मधृतवानिति सूचितम्। तत्र वैकुण्ठस्य इन्द्रस्य वाक्यम्। 'अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरि'ति 'प्राश्रावयं शवसा तुर्वसुं यदुमि'ति च प्रमाणम्। तत्र हरिवंशे पूर्वं सोमवंशात् ययातेः सकाशात् यस्य यदोः क्रोष्ट्रादीनारभ्य शूरवसुदेवान्तौ वंश उक्तः, विकद्रु वाक्ये पुनः सूर्य्यवंशात् हर्य्यश्वाज्जातस्य यदोरेव माधवादिक्रमेण वसु-वसुदेवान्तो वंश उक्तः। तत्र

यथा ब्रह्मपुत्रस्य वशिष्ठस्य पुनर्जातस्यापि नामरूपयोर्भेदः पूर्वान्वयात् विच्छेदश्च नासीत्, मित्रावरुणाभ्यां एवं ययातितो हर्य्यश्वाच्च जातस्य यदोरपि ज्ञेयम्। यथा च ब्रह्मपुत्रस्यापि सनत्कुमारस्य कार्त्तिकेयत्ये स्कन्द इति नाममात्रं भिन्नं व्यनक्ति। तमसस्पारं दर्शयति, भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते इति छान्दोग्ये दर्शनात्। तथा शूरस्य ययात्यन्वये हर्य्यश्वान्वये च जातस्य वसुरिति नाममात्रेण भेदः। तेन वसुदेवस्य शूरपुत्रत्वं वसुपुत्रत्वञ्च सङ्गच्छते। अतएवमुदाहृत श्रुत्योरर्थः– अहं वसुनः वसोः सकाशात् भुवं अभवम्। अड्भावः शवभावो गुणाभावश्चार्षः। पूर्व्यः आद्यपतिः स्वामी, अविशेषात् कृत्स्नस्य जगत इत्यर्थः। तथाहं श्रवसा बलेन तुर्वसुं यदुं प्राश्रावयं– प्रकर्षेण श्रावितवानस्मि– यदुवंशीयाः वयमतिबलवत्तराः, इति। अत्र तुर्वसुर्ग्रहणं ययाते र्यदुवंशजत्व ज्ञापनार्थम्। तेन यदुवंशे उत्पन्नस्य देवकीभर्त्तुर्गृहे भगवानुत्पन्न इति प्रसिद्धम् ॥११॥

अनुवाद– अतःपर श्रीकृष्ण किस प्रकार मातृगर्भ में आविर्भूत हुए थे, इस मन्त्र में उसका विवरण कथित है। "हे भूमन्" हे विराट पुरुष! 'त' तव, आपके रुद्र रूप के द्वारा ही "पुरः" त्रिपुर 'रुशतः' ध्वंस हुआ था, अथवा पुर शब्द से स्थूल सूक्ष्म एवं कारण शरीर का बोध होता है। आप उस देहत्रय को ग्रास करते हैं। आपके तुरीय स्वरूप का जो "कृष्णं भा" सत्यानन्द चिन्मात्र रूप है, उसको हमने 'एम' प्राप्त किया है। आपके "एकं इत् अर्च्चिः" एकमात्र स्फुलिङ्गवत् अंश ही समष्टि जीवरूप में "वपुषां चरिष्णु" निखिल जीव देह में भोक्तृ रूप में विराजित है। "यत्" जिसको अर्थात् उन श्रीकृष्ण को ही, "अप्रवीता" प्रकर्ष के साथ वीत अर्थात् गमन अथवा यथेष्ठ सञ्चार नहीं है, जो लोग उन निरुद्ध गति निगड़ बद्धा ''देवकीगर्भं ह दधते" स्वीय गर्भ में धारण किया। यह सब ही प्रसिद्ध है। छान्दोग्य उपनिषद् में "कृष्णाय देवकी पुत्रायेति" इत्यादि वाक्य में देवकी का कृष्ण मातृत्व का उल्लेख स्पष्टतः है। आपने सह "जातदेवः" देवकी के गर्भ से बाहर आविर्भूत होकर 'सद्य' तत्क्षणात् "इदुः" परमैश्वर्य्य का प्रकाश किया, एवं तत्क्षणात् "चित्" निश्चित "दूतः" जननी को वियोग दुःखप्रद 'भवसि' हुए। देवकी पति वसुदेव के गृह में जन्म ग्रहण किए थे इससे वह सूचित हुआ। इस विषय में वैकुण्ठेन्द्र का अर्थात् श्रीनारायण का वाक्य इस

प्रकार है। "अहं भुवं वसुन: पूर्वम्पतिरिति" प्राश्रावयत् शवस्य तुर्वसुं यदुमिति"। यहाँ वसु ही यदु है, उसका उल्लेख हरिवंश में है। पूर्व में सोमवंशीय ययाति से यदुवंशीय क्रोष्टादि से आरम्भ कर अन्त में शूरसेन वसुदेव पर्य्यन्त कथित है। विकद्रु वाक्य में पुनर्वार सूर्य्यवंशीय हर्य्यश्व से जात यदु का ही माधवादि क्रम से वसु वसुदेव पर्य्यन्त कथित हुआ है। जिस प्रकार ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ का पुनर्वार मित्रावरण से जन्म होने पर भी उनका केवल नाम रूप से ही भेद था, पूर्वान्वय से विच्छेद नहीं हुआ। पुन: ब्रह्मा पुत्र सनत्कुमार का ही कार्त्तिकेय रूप में स्कन्द नाम हुआ। इस विषय में प्रमाण छान्दोग्य में है। "तम सम्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार स्तं स्कन्द इत्याचक्षत"। इस प्रकार शूर का ययाति के अन्वय में एवं हर्य्यश्वान्वय में जात "वसु" नाममात्र भेद है। सुतरां वसुदेव का शूरपुत्रत्व, वसुपुत्रत्व सङ्गत ही है। अतएव उदाहृत श्रुति का अर्थ यह है कि "अहं वसुन: वसो: सकाशात् भुवं अभवनित्यादि", अर्थात् मैं ही वसुदेव से उत्पन्न हुआ। "पूर्व्य" अर्थात् आद्य स्वामी वा अविशेष हेतु निखिल जगत् के अधिस्वामी मैं इस विषय का श्रवण बलपूर्वक तुर्वसु यदु को प्रकृष्ट रूप से करवाया था। यदुवंशीय हम सब अतिशय बलवान् थे। ययाति से उत्पन्न यदुवंश में ही उत्पन्न हुआ है, यह ज्ञापन के निमित्त ही यहाँ "तुर्वसु" नाम गृहीत हुआ। अतएव यदुवंशजात देवकीपति वसुदेव के गृह में भगवान् आविर्भूत हुए थे, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है॥११॥

विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्काभगस्येव कारिणो यामनि ग्मन्।
उरुक्रमः ककुहो यस्य पूर्वीर्नमर्द्धन्ति युवतयो जनित्रीः॥१२॥

ऋग्वेद-३।३।२६/ ३।५४।१४

अयं जातमात्रो मात्रा वियुक्त इत्युक्तं तत्र हेतुमाह। विष्णुमिति। स्तोमासः स्तोमा:। आज्जसेरसुक्। स्तुत्या: महान्तो विष्णुं पुरुदस्मं ब्रह्मायतनं अर्का: अर्भका:। यामनि भक्तजनेषु प्रेमपीयूष परिवेषणे ग्मन्। मन्त्रे घसेतिलेर्लुक्। गता प्राप्ता:। यमो परिवेषणे एवमित्वादिह परिवेषणे यमेर्ह्रस्वो न। के इव? भगस्य ऐश्वर्य्यकारिण इव। अयमर्थ:— एक: पुत्रमिव प्रेम्ना वस्त्रालङ्कारणादिना विष्णुमर्हितं करोति अपरो दण्डभयाद्राजानमिव। तत्रारा-

धनस्यैकरूपत्वेपि भाव भेदात्। उरुक्रमो उरुर्महांस्त्रैलोक्याक्रमणसमर्थ: क्रम: पादविक्षेपो यस्य स: ककुह: कुहकोऽस्ति। यतो यस्य पूर्वीर्जनयित्री प्रथममात: युवतय: देवकाद्या:। बहुत्वं कल्पभेदाभिप्रायेण पूजायां वा। अत्र सुपां सुपो भवन्तीति जसं शस्। नमर्द्धन्ति भगवद्दत्तेन महिम्ना उपेता अपि न तत्कर्त्तृकेण प्रेम्ना क्लिद्यन्ते। तेन प्रेमभक्तेषु गोकुलजनेष्वनुरक्तोऽभूदिति ॥१२॥

अनुवाद— भगवान जन्म ग्रहण करके ही माता से विच्छिन्न हो गये थे। इस मन्त्र में उसका हेतु प्रदर्शित हुआ है। "स्तोमास:" जो जन स्तुति के द्वारा महिमान्वित हैं, वे सब "विष्णुं पुरुदस्मं" विष्णु रूप ब्रह्मायतन को "अर्का:" शिशु रूप में "यामनि" भक्तजन के प्रति प्रेम पीयूष परिवेषणार्थ "भगस्य कारिण इव " ऐश्वर्य्यकारिगण के न्याय 'ग्मन्" प्राप्त हुये थे। फलत: एक व्यक्ति पुत्र स्नेह की पराकाष्ठा का प्रदर्शन कर वस्त्रालङ्कारादि द्वारा विष्णु को अर्च्चित करता है, अपर व्यक्तिदण्ड भय से राजा के समान उनकी अर्च्चना करता है। इस स्थल में आराधना एकरूप होने पर भी भावभेद हेतु उक्तरूप अर्च्चना भेद को जानना होना। आप "उरुक्रम:" उरु-महान् अर्थात् त्रैलोक्य क्रमण में समर्थ, इस प्रकार पादविक्षेप विशिष्ट एवं "ककुह:" कुहकमय हैं, कारण "यस्यपूर्वी" उनकी पूर्वजनयित्री प्रथम मातृगण "युवतय:" देवकी प्रभृति "नमर्द्धन्ति" भगवद्दत्त महिमान्विता होकर भी तत्कर्त्तृक प्रेमद्वारा क्लिन्ना अर्थात् अभिषिक्ता नहीं होती हैं। अतएव प्रेमभक्त गोकुल जन के प्रति ही आप अनुरक्त होते हैं, यह परिव्यक्त हुआ। यहाँ जननी का बहुत्व, कल्प भेदाभिप्राय से वा पूज्य विषय में प्रयुक्त है॥१२॥

सस्वश्चिद्धि तन्व: शुम्भमाना आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन्।
विश्वं शर्द्धो अभितो मा निषेद नरो न रण्वा: सवने मदन्त:॥१३॥

ऋग्वेद ५।४।३०/ ७।५९।७

सद्यश्चिज्जात इति य उक्तस्तं जातमात्रं देवा परिवब्रुरित्याह वशिष्ठ:। सस्वश्चिद्धीति। सस्वर्ग:— यन्न दु:खेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्व: पदास्पदमिति श्रुतिनिरुक्तं सुखवतासमानं सस्व: श्रीकृष्णाध्यासितं भूमण्डलं। चिद्धि इत्यनर्थको निपातौ सूचन प्रसिद्ध्यर्थौ

वा हंसासो हंसा देवा: आ समन्तात् गता: प्राप्ता: तन्व: तनु: शुम्भमाना: शोभयन्त:। दिव्यरूपधारिण: इत्यर्थ:। नीलपृष्टा:। डलयोरैक्यात् नीड़ं स्वर्ग: पृष्ठं येषां ते नीड़पृष्ठा:। अंशमात्रेण स्वर्गेस्थित्वा सर्वात्मना भूमिमागता इत्यर्थ:। विश्वं कृत्स्नं शर्द्ध:। शृधु क्लेदने वृष्टिकरं द्युस्थानमन्तरिक्षस्थानं च देवता यूयं अभित: समन्तात् मा मां मदभिन्नं निषेद निषषाद। अत्र वशिष्ठ: मा इति प्रत्यग् भेदादीश्वरमस्मत् शब्देन निर्दिशति 'मामुपासस्वेति अहं मनुरभवमि 'तीन्द्र-वामदेवादिवत्॥ अत्रदृष्टान्त:। नरोनेत्यादि। न शब्द उपमार्थे। यथा नरो मनुष्या: सवने पुत्रजन्मादि-उत्सवे रण्वा: रमणशीला मदन्तो हृष्यन्त: संष्क्रियमाणस्य शिशोरभितो निषीदन्त्येवं देवा: कृष्णमभितो निषेदुरित्यर्थ:॥१३॥

अनुवाद— श्रीभगवान् प्रकट होने से ही देवगण उनको चारों दिक से परिवेष्टन कर उपस्थित हुए थे, इसे ही वशिष्ठदेव इस मन्त्र में प्रकाश किए हैं, "स स्व:", जो दु:ख से संभिन्न नहीं होता है, जिसको कोई ग्रास नहीं कर सकता है, जो अन्तर रहित है, एवं जो अभिलाष मात्र से उपनीत होता है, वह सुख ही "स्व:" पद का विषयीभूत है। यह श्रुति निरुक्त कथित सुखवत्ता तुल्य "स स्व:" अर्थात् स्वर्गतुल्य श्रीकृष्णाध्यासित भूमण्डल को ही "विद्धि" प्रसिद्ध रूप में "हंसास:" देवगण "आ अपप्तन्" सर्वतो भावेन प्राप्त हुए थे। उनके "तन्व:" देह "शुम्भमाना:" अतिशय शोभान्वित हुए थे। फलत: उनके "नीलपृष्ठा:" "नीड़पृष्ठा:" अंशमात्र से स्वर्ग में रहकर भी दिव्य रूप धारणपूर्वक सर्वात्म के सहित भूतल में आगमन किए थे। "विश्वं शर्द्ध:" निखिल वृष्टिकर द्युस्थान, अन्तरिक्ष स्थान को हे देवतागण आप सब "मा मां" हमसे अभिन्न रूप में प्राप्त किये थे। यहाँ पर वशिष्ठदेव "मा" इस वाक्य में प्रत्यक् भेद अर्थात् जीवात्मा स्वरूप में अभेद हेतु अस्मद् शब्द द्वारा परमेश्वर का ही निर्देश किए हैं। इन्द्र जिस प्रकार कहे थे, 'मामुपास स्वेति।' मेरी उपासना करो एवं वामदेव भी बोले थे "अहं मनुरभवम्" अर्थात् मैं ही मनु बना था। अतएव "नरो न" उपमार्थे, मनुष्यगण जिस प्रकार "सवने" पुत्र जन्मादि उत्सव में "रण्वा:" रमणशील क्रीड़ाशील होकर 'मदन्त:' आनन्द प्रकाश करते करते संष्क्रियमान शिशु के निकट में उपस्थित होते हैं, उस प्रकार देवगण भी श्रीकृष्ण के निकट में समागत हुए थे॥१३॥

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिचकित्वांसो अचेतसं नयन्ति।
प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्तिपारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्॥१४॥

ऋग्वेद-५।५।२/ ७।६०।७, नि. ६।२०

एवं निषण्णा देवाः वसुदेवं सम्बोधयन्ति इमे दिव इति। भो मनुज! इमे परिदृश्यमानाः दिवः सम्बन्धिनो देवाः अनिमिषाः निमिषवर्जितत्वेन अत्यन्तं सावधानाः पृथिव्याः सम्बन्धिनं अचेतसं अज्ञं जनं स्वयं चिकित्वांसः तस्य हितं जानन्तः नयन्ति एवं कुरुष्वेति शिक्षयन्ति। तदेवाह। प्रव्राज इति। प्रकर्षेण व्रजते देशसीमामुल्लङ्घ्य गच्छते पुरुषाय नद्यो यमुना तत्सम्बन्धिजलम्। सोः जस् भावः आर्षः। गाधं प्रावृट् कालेऽपि जानुदघ्नमस्ति। अतो नोस्माकं पुरोवर्त्तिनोऽस्य शिशोर्विष्पितस्य वेवेष्टि व्याप्नोति इति विट्। पाति पिबतीति वा पितः विट् चासौ पितश्च विष्पितः जगतः सृष्टिस्थितिप्रलयकृत् तस्य। विषशब्दस्यार्षं षत्वम्। कर्मणि षष्ठी। एवञ्च विष्पितं पारं यमुनायाः तीरं प्रापयितुं पर्षण् स्नेहवान् आदरयुक्तो भव। यमुना च तुभ्यं मार्गं दास्यतीति भावः॥१४॥

अनुवाद— इस प्रकार समागत देवगण वसुदेव को सम्बोधन कर कहने लगे। हे मनुष्य! "इमे" परिदृश्यमान् "दिवः" दिव् धातु सम्बन्धी अर्थात् देवगण "अनिमिषाः" निर्मेष वर्जित होकर अर्थात् अत्यन्त सावधान होकर "पृथिव्याः" पृथिवी सम्बन्धीय अर्थात् पार्थिव 'अचेतसं' अज्ञ जनको स्वयं जानकर "चिकित्वांसः" उसका हित किससे होगा, यह जानकर "नयन्ति" ऐसा करो कहकर उपदेश देते हैं। सुतरां आप इस चिन्मय पुरुष को लेकर देश सीमा का उल्लङ्घन कर गमन करें। आपका गमन समय में "प्रब्राजे चित्" गमनकाल में विस्मय "नद्योः" श्रीयमुना का जल इस प्रावृट् काल में भी "गाधं अस्ति" अगभीर अर्थात् जानुपरिमित होगा। अतएव "नः" हमारे पुरोवर्त्ति "अस्य विपश्चितस्य" इस जगत के सृष्टिस्थिति प्रलयकारी शिशुके "पारं" यमुना के परपार में ले जाने के निमित्त "पर्षन्" स्नेहवान बनो। श्रीयमुना अवश्य ही तुम्हारे गन्तव्य पथ प्रदान करेगी, यह ही तात्पर्य्य है॥१४॥

यद् गोपावददितिः शर्मभद्रं मित्रा यच्छन्ति वरुणः सुदासे।
तस्मिन्नातोकन्तनयं दधानामाकर्म देव हेलनं तुरासः॥१५॥

ऋग्वेद- ५।५।२/ ७।६०।८

ननु कथमितरैरज्ञातेन मया अयं पारं नेतुं शक्यः, क्व वायं नीत्वा स्थापनीय इत्त्याकाङ्क्षयामाह। यद् गोपेति। यत् स्थानं गोपावात् गोपालयुक्तं यत्र च अदितिर्मित्रो वरुणश्च सुदासे शोभनाय दानाय भद्रं उत्सवादिरूपं शर्म सुखं भद्रं अनामयं च यच्छन्ति, तस्मिन् स्थाने तोकं तनयं आदधानाः आदधानः भवेति शेषः। तत्र स्थापयेत्यर्थः। भो तुरासः इतस्ततः प्लवमानमनोवेगत्रस्ता देवहेलनं देवानामवज्ञानं मा कर्म मा कुरुत। आर्षः पुरुषव्यत्ययः। स्वाभेद-विवक्षया वा॥१५॥

अनुवाद— यदि कहो कि—मैं छिपकर इस शिशु को कैसे यमुना पार में ले जा सकूँगा? एवं ले जाकर इसे कहाँ रखूँगा? उसके उत्तर में कहते हैं, 'यत्' जो स्थान, 'गोपावत्' गोपगण समन्वित है, एवं वहाँ "अदितिर्मित्र वरुणश्च" अदिति, मित्र वरुण, "सुदासे" शोभन-दान स्वरूप में 'भद्रं' उत्सवादि रूप "शर्म" सुख, कल्याण-अनामय प्रदान करते रहते हैं, "तस्मिन्" उस स्थान में, उस गोकुल में "तोकं तनयं" तुम्हारे शिशु पुत्र को "आदधाना" सम्यक् रूप में स्थापनकारी बनो। अर्थात् वहाँ पर यत्नपूर्वक रक्षा करो। "हे तुरासः" इतस्ततः दोलायमान मनोवेगत्रस्त "देव!" हे वसुदेव! "हेलनं" देवतागण के इस आज्ञा का अवहेलन न करो, शीघ्र इसे ले जाओ॥१५॥

इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गान्तु कृणवन्नुषसो जनाय॥१६॥

ऋ. ३।८।१/ ४।५१।१, नि. ४।२५

एवं देवैराज्ञप्तो वसुदेवः कृष्णमानीय नन्दागारे यशोदा निकटे स्थापितवान्। तेनैव सह गताः देवाः तत्र भगवतः स्वरूपं वर्णयन्ति इदम् उत्प्रेति, त्रिभिर्मन्त्रैः। इदं शिशुरूपेण दृश्यमानं नूनं निश्चितं तत् वेदान्त प्रसिद्धं ज्योतिश्चिन्मात्रं पुरुतमं भूमसंज्ञं तमसः तमः कार्य्यात् संसारात् तत्कारणाद-व्याकृताच्च पुरस्तात् पूर्वं उदस्थात् उत्थितं नित्यमाविर्भूतम् वयूनं प्रशस्तं कर्म

दुष्टनिग्रहशिष्टपालनरूपम्। दैर्घ्यं सांहितिकं वयुनावत् भवितुं जातमित्यर्थः। उषसः उषोभिमानिन्यो देवताः गां तु पृथिवीं कृणवन् अलंचक्रुः। अथेतिशेषः। जनाय— दुष्टनिग्रहादिना जानहितायेत्यर्थः। कीदृश्य उषसः। दिवो दुहितरः अव्याकृताकाशात् जाता इत्यर्थः। अतएव विभातीः विशेषेण भान्त्यः॥१६॥

अनुवाद— इस प्रकार देवगण से आज्ञा प्राप्त कर, वसुदेव श्रीकृष्ण को लेकर नन्दालय में श्रीयशोदा के निकट में स्थापन किये। देवगण भी उनके साथ वहाँ जाकर श्रीभगवान् के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से करने लगे, "इदं" शिशु रूप में दृश्यमान यह ही "नूनं" निश्चय ही उस वेदान्त प्रसिद्ध 'ज्योतिः' चिन्मात्र एवं "पुरुतमं" भूमा पुरुष; "तमसः" तमः कार्य्यरूप संसार एवं उसके कारण स्वरूप अव्याकृत के भी (वेदान्त के मत में ब्रह्म व्यतीत जगत् उत्पत्ति का बीज, एवं साङ्ख्य मत में अव्यक्त के) "पुरस्तात्" पूर्वे, पूर्व में स्थित। "अस्थात् उदस्थात" उत्थित अर्थात् नित्य आविर्भूत एवं "वयुनं" दुष्ट निग्रह और शिष्ट पालनरूप प्रशस्त कर्म के निमित्त ही सम्प्रति धराधाम में उदित हुए हैं। इसके सहित "दिवो दुहितरः" अव्याकृत आकाश से जात, अतएव "विभातीः" विशेष प्रभाशालिनी "उषसः" उषोभिमानिनी देवतागण 'जनाय' दुष्ट निग्रहादि द्वारा जीव के कल्याण साधन करने के निमित्त "गांतु" पृथिवी को "कृणवन्" अलङ्कृत किए थे, अर्थात् वे सब भी धराधाम में जन्म ग्रहण किये थे॥१६॥

अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरबोऽध्वरेषु।
व्युन्त व्रजस्य तमसोद्धारोच्छन्तीरब्रवञ्छुचयः पावकाः॥१७॥

ऋग्वेद- ३।८।१/ ४।५१।२

अस्थुरुचित्रा इति। पुरस्तादितः पूर्वं चित्राः उषसः अस्थूलार्थकराः उषःकालाः स्थिताः तथापि ताः मिता इव परिच्छिन्ना एव। अल्पानन्दकरत्वात्। अद्यतनी उषा अखण्डानन्द प्रकाशिकेत्यर्थः मितत्वे दृष्टान्तः। अध्वरेषु स्वरव इव यूपैकदेशप्रादेशमात्र काष्ठतुल्या इत्यर्थः। एतास्तु व्रजस्य व्रजसम्बन्धिन-स्तमसो मूलाज्ञानस्य पोषकाणि द्वाराणि देहाद्यभिमानान् उ निश्चितं व्युच्छन्तीः वैपरीत्येन प्रकाशयन्ती अव्रन् व्रतवत्यः या शुचयः पावकाः शुद्धिकर्त्र्यः। अतो

व्रजस्य भाग्यमखण्डं ब्रह्म प्राक् क्वचिदप्यनाविर्भूतमाविरभूदिति भावः ॥१७॥

अनुवाद– 'पुरस्तात्' - इसके पूर्व में "चित्राः उषसः" विचित्रा उषोभिमानिनी देवतागण भी "अस्थुरु" अस्थूलार्थकरा अर्थात् सूक्ष्मभाव से उषाकालरूप में अवस्थित थे, तथापि वे सब 'मिता इव' स्वल्पानन्द प्रद होने से परिच्छिन्न स्वरूप हैं। ठीक जैसे 'अध्वरेषु' यज्ञसमूह में प्रयोज्य 'स्वरव इव' यूपैकदेश स्थित प्रादेश मात्र काष्ठ खण्ड तुल्य। किन्तु अद्यतनी उषा अखण्डानन्द प्रकाशिका वे सब ही "व्रजस्य तमसो द्वारः" व्रजसम्बन्धीय मूल अज्ञान के पोषक द्वार स्वरूप देहाद्यभिमान समूह को "उ" निश्चय 'व्यच्छन्तीः' वैपरीत्य रूप में प्रकाश करते रहते हैं, अर्थात् व्रजवासियों के देहाभिमानादि अज्ञान का पोषक न होकर ऊपर के अज्ञान नाशक रूप में प्रकाश करते रहते हैं। वहाँ "अव्रन्" व्रतवतीगण "शुचयः" परमपवित्रा एवं "पावकाः" शुद्धि कर्त्री हैं। अहो! व्रज का कैसा सौभाग्य! जो अखण्ड ब्रह्म, कहीं भी आविर्भूत नहीं हुए, वह यहाँ आविर्भूत हुए हैं ॥१७॥

उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधो देयायोषसो मघोनीः।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये॥१८॥

ऋग्वेद ३।८।१/ ४/५१/३

न केवलं व्रजस्य भाग्यं अपितु भोजोपलक्षितानां वृष्ण्यन्धक यादवाना-मपीत्याह उच्छन्तीति। अद्य भोजान् उच्छन्तीः कंसेनाभिभूतान् भोजान् प्रकाशयन्तीः उषसः अचितयत जानीत राधोदेयाय धनप्रदानाय मघोनीः धनवतीः। अत्र व्रजस्य तमसो द्वारा व्युच्छन्तीरिति भोजान् राधोदेयाय उच्छन्तीरिति च व्रजस्याज्ञानापगमेन परम पुरुष पुरुषार्थ भागित्वं, योजानां श्रीकरत्वेनावर-पुरुषार्थभागित्वं चोक्तम्, तत्र कारणं प्रागेवोक्तम्– "विष्णुं स्तोमास" इत्यत्र। तथा अचित्रे अचमत्करणीये महामोहमये तमसि विमध्ये अन्तः स्थिता इति शेषः। पणयो असुराः ससन्तु स्वपन्तु यथा अबुध्यमानाः। स्वहितमिति शेषः। तदेवं मन्त्रत्रयेण क्रमात् कृष्णस्याविर्भावो जनस्योपकाराय व्रजस्य कैवल्याय प्रीतिदानाय भोजानां राज्यादि लाभाय चेत्युक्तम्॥१८॥

अनुवाद– यह केवल व्रजवासियों का सौभाग्य नहीं है, अपितु

भोज, वृष्णि, अन्धक यादवों का भी सौभाग्य सूचक है। "अद्य भोजान् उच्छन्ती:" अद्य कंस के भय से अभिभूत भोजगण की प्रकाशकारिणी "उषस:" उषोभिमानिनी देवतागण को "अचितयत" अवगत हो जाओ कि वे सब ही "राधोदेयाय" धन प्रदान के निमित्त "मघोनी:" धनवती हैं। यहाँ व्रज का तमोद्वार का प्रकाश विपरीत भाव से प्रकाश करते हैं, एवं धनदान के निमित्त भोजगण को प्रकाश करते हैं। इस उभय वाक्य में पुरुषार्थ प्रकाश का तारतम्य सूचित हुआ है। व्रजजनगण का अज्ञान अपगमहेतु परम पुरुषरूप पुरुषार्थ लाभ, और भोजगण की श्रीवृद्धिरूप अवर पुरुषार्थ लाभ ही कथित है। पूर्वोक्त 'विष्णुं स्तोमास:' इत्यादि मन्त्र में इसका कारण प्रदर्शित हुआ है। "अचित्रे" अचमत्करणीय अर्थात् महामोहमय 'तमसामध्ये' अज्ञान अन्धकार के अभ्यन्तर में "पणय:" असुरगण 'ससन्तु' निद्रित होने से वे सब निज निज हित "अबुध्यमाना:" को जानने में असमर्थ होते हैं। इस प्रकार उक्त मन्त्रत्रय द्वारा यथाक्रम से जीव का कल्याण साधन, व्रज का कैवल्यप्रीतिदान और भोजगण को राज्य प्रदान के निमित्त ही श्रीभगवान् श्रीकृष्ण का आविर्भाव है, यह परिव्यक्त हुआ ॥१८॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वंता विषुचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्ण निचिक्युरन्यम्॥१९॥

ऋग्वेद २।३।२१/ १।१६४।३८

अथ रामकृष्णयो: सूत्रान्तर्यामिरूपयो: साहचर्य्यमाह, उपाङिति स एवं अपाङ् प्रत्यङ् सन् प्राङ् परागिव एति अन्तरात्मापि सन् बहिर्भावेन पुरुषान्तररूपेण चरति। कुत:। स्वधया लोकानां पुण्येन कर्मणा गृभीतो वशीकृत: सन् अमर्त्य: कृष्णोऽन्तर्य्यामी मर्त्येन कृत्स्न कार्य्याभिमानिना सूत्रात्मना रामेण सयोनि: समानायां योनौ उदरे स्थाने वा भवतीति सयोनि: सौदर्य्यै: सहचरन्तावुभावपि रामकृष्णौ शश्वन्ता शश्वत्भवौ। यो वै तत्कार्य्यसूत्रं विद्यातं चान्तर्य्यामिणमिति प्रसिद्धौ सूत्रान्तर्यामिणौ, विषुचीना विष्वञ्चौ व्यापकौ वियन्ता विविध प्रकारेण यन्तौ चरन्तौ तयोरण्यं एकं सर्वेजना निचिक्यु: कार्य्यरूपत्वात् जानन्ति ज्ञातवन्त:, प्राञ्च इति वा। सूत्रात्मनोपि शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात् अन्यं

कृष्णं न निचिक्युः इदं तया न जानीयुः प्रत्यगात्मत्वेनाविषयत्वात् गोपजना इत्यर्थः ॥१९ ॥

अनुवाद— अनन्तर श्रीरामकृष्ण सूत्रान्तर्य्यामि रूप में परस्पर सहचर सहकारी हैं, उसे कहते हैं। इस प्रकार वह भगवान् "अपाङ् सन्" अन्तरात्मा होकर भी "प्राङ्" बहिर्भाव में पुरुषान्तर रूप में "एति" विचरण करते रहते हैं, एवं ''स्वधया'' लोक के पुण्य कर्म के द्वारा "गृभीतः" वशीकृत होकर "अमर्त्त्य" अन्तर्य्यामी श्रीकृष्ण "मर्त्त्येन" निखिल कार्य्याभिमानी सूत्रात्मा बलराम की "सयोनिः" - समान उदर में, समान स्थान में समुद्भूत। अतएव 'ता' रामकृष्ण उभय, परस्पर "शश्वन्ता" नित्य सहोदर एवं नित्य सहचर हुये थे। जो उनके कार्य्य सूत्र रूप में विदित है एवं जो अन्तर्य्यामी हैं, दोनों ही सूत्रान्तर्य्यामी नाम से प्रसिद्ध हैं। वे "विषुचीना" व्यापक रूप में "वियन्ता" विविध प्रकार से विचरण करते रहते हैं। उभय भ्राता के मध्य में "अन्यत्" एक जन को सब लोक "निचिक्युः" कार्य्य स्वरूप में जानते हैं; इस कारण से वह सुत्रात्मारूप में शास्त्र में सम्यक् अधिगम्य होते हैं। "अन्यं" अपर श्रीकृष्ण को "न निचिक्युः" गोपजन इस प्रकार जानने में समर्थ नहीं हैं। कारण, आप प्रत्यगात्मा अर्थात् ब्रह्म अथवा परमेश्वर रूप में इन्द्रिय ज्ञानातीत हैं ॥१९ ॥

पृथुरथो दक्षिणाया आयोज्यैनं देवासो अमृतासो अस्थुः।
कृष्णादुदस्थादर्य्या विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय॥२०॥

ऋग्वेद- २।१।४/ १।१२३।१

हरिवंश क्रमेण प्रथमं शकटासुरभङ्गमाह। दक्षिणायाः दक्षिणादिक् सम्बन्धी मृत्युदूत इत्यर्थः। रथः शकटं आयोजि नियुक्तम्। असुरैरिति शेषः। एनं अमृतासः अमृता देवासः देवाः आ समन्तात् अस्थुः परिवार्य्य स्थितवन्तः, नतु भङ्क्तं अशक्नवन्नित्यर्थः। स रथः कृष्णात् प्राप्य विहायाः आकाशात्तं प्रति उदस्थात् उत्थितः। कृष्णेनान्तरीक्ष उत्क्षिप्त इत्यर्थः। तदा मानुषाय मनुष्य-रूपस्य कृष्णस्य क्षयाय नाशेऽपि विषये चेकित्सन्ती सन्दिहाना आर्य्या श्रेष्ठा सर्वा प्रजाः, अभूदिति शेषः। कथमेतत् शकटमुत्क्षिप्तं कथं वानेन सन्निहितोऽपि शिशुर्न मर्दित इत्याश्चर्य्यम् मन्यते इत्यर्थः ॥२० ॥

अनुवाद— हरिवंश के क्रमानुसार श्रीकृष्ण ने प्रथम शकटासुर भङ्ग किया। इस मन्त्र में उसका विवरण वर्णित है। "दक्षिणाया" दक्षिण दिक् सम्बन्धि मृत्युदूत अर्थात् असुरगण "पृथुरथः" एक विपुलायतन शकट को "अयोजि" श्रीकृष्ण के उद्देश्य में नियुक्त किए थे। "अमृतासः देवासः" अमर भावापन्न देवगण "एनं" इस शकट को "आ अस्थुः" चतुर्दिक् से वेष्टन कर उसकी गति को प्रतिहत करके अवस्थान कर रहे थे, किन्तु उसको भग्न करने में समर्थ नहीं हुए। वह रथ अर्थात् शकट "कृष्णात्" श्रीकृष्ण को प्राप्त कर "विहायाः" आकाश की ओर "उदस्थात्" उत्थित हुआ अर्थात् श्रीकृष्ण के द्वारा अन्तरिक्ष में उत्क्षिप्त हुआ। उस समय 'मानुषाय' मनुष्य रूपधारी श्रीकृष्ण के "क्षयाय" विनाश विषय में "आर्या" श्रेष्ठ प्रजावृन्द "चिकित्सन्ती" विशेष सन्दिहान हुए थे। कैसे वह शकट उत्क्षिप्त हुआ, एवं कैसे शकट सन्निहित होने पर भी उससे शिशु विमर्दित नहीं हुआ? इसको वे सब आश्चर्य्य मानने लगे॥२०॥

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्या पदं कृणुते अग्निधाने।
शन्नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसीदिह देवाः कपोतः॥२१॥

ऋ. ८।८।२३/ १०।१६५।३

शकुनिरूपायाः पूतनाया वधमाह, हेतिरिति। हेतिरिव हेतिरायूधवन् मृत्युरूपा पक्षिणी अस्मान् अभिभवितुमायातापि न दभाति नाभिभवति प्रत्युत अग्निधाने अग्निरूपस्य कृष्णस्य धाने पाने तर्पणे निमित्ते आष्या असुगति-दीप्त्यादानेषु। अस्मान्निजन्तात् तृच। दीपयन्त्यां अग्नीष्टिकायां पदं स्थानं कुरुते कृष्णाय स्तनदान व्याजेन वह्नावैव पपातेत्यर्थः। एवमुक्त्वा शान्तिं पठन्ति शन्न इति नोस्माकम् गोभ्यः पुरुषेभ्यश्च शं कल्याणमस्तु। भो देवाः कपोतो मृत्योर्दूतोऽस्मान् मा हिंसीदिति॥२१॥

अनुवाद— अतः पर शकुनिरूपा पूतना वध कथित हो रहा है। "हेतिः" आयुध के न्याय मृत्युरूपा "पक्षिणी" "पूतना" "अस्मान्" हम सबको अभिभूत करने के अभिप्राय से आगमन करने पर भी "न दभाति" अभिभूत करने में समर्थ नहीं हुई। किन्तु "अग्निधाने" अग्नि स्वरूप श्रीकृष्ण के पान

तृप्ति निमित्त "आष्या" प्राणगति दीप्तिकारिणी "अग्नीष्टिकायां" अर्थात् अग्नि संस्कार में "पदं" स्थान "कृणुते" किया। फलतः श्रीकृष्ण को विषाक्त स्तनपान कराने के छल से स्वयं ही अग्नि में गिर गई थी। अनन्तर पुरवासिनी जननीगण ऐसा कहकर शान्ति पाठ किए "नः" हमारे "गोभ्यः पुरुषेभ्यश्च" गोधन निचय एवं पुरुषगण के "शं" कल्याण "अस्तु" हो। "भो" देवाः" हे देवगण! "इह" इस स्थान में उस कपोतरूपी मृत्यु दूत जैसे हमें "मा हिंसीत्" हिंसा न करे ॥२१ ॥

साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया॥२२॥

ऋग्वेद-८।५।१०/१०।९७।१३

वात्यारूपिणा तृणावर्त्तेन कृष्णे विहायसा नीते देवास्तं शपन्ति, साकमिति, हे यक्ष्म! महारोग वात्यारूप राक्षस! चाषेण चाषवर्णेन शिशुना किकीत्यव्यक्तभाषणेन दीव्यता क्रीड़ता किकिदीविना कृष्णेन त्वत् प्रपतन हेतुना साकं सार्द्धं त्वं प्रपत अन्तरिक्षात् च्युतो भव, तथा वातस्य ध्राज्यायां सुरेषया सोमस्पर्शिन्या वात्यया साकं सद्य एव नश्य नष्टोभव। तथा निहाकया नितरां हा इति कायति शब्दं करोत्यनयेति निहाका तीव्रवेदना तया साकं नश्य, नष्टे च त्वयि भगवानस्मदीयो यथेष्टं विहरत्विति भावः। एवमुक्तमात्रे तत्तथैव जातमिति ज्ञेयम् ॥२२॥

अनुवाद— वात्यारूपी तृणावर्त्त द्वारा श्रीकृष्ण को अन्तरिक्ष में ले जाने से देवगण उसे अभिशाप देने लगे। "हे यक्ष!" हे महारोग वात्यारूप राक्षस! "चाषेण" चास पक्षी के समान श्यामलवर्ण एवं ''किकि दीविना'' "किकि" यह अव्यक्त भाषा प्रकाशपूर्वक क्रीड़ाकारी बालक श्रीकृष्ण के प्रकृष्ट रूप में पतन हेतु उसके "साकं" सहित तुम भी "प्रपत" अन्तरिक्ष से विच्युत हो जाओ, एवं "वातस्य ध्राज्या" सोमस्पर्शिनी वात्या के "साकं" सहित अभी "नश्य" विनष्ट हो जाओ, एवं "निहाकया" निरन्तर "हा" शब्द उत्पादनकारिणी तीव्र वेदना के सहित अभी नष्ट हो जाओ। कारण तुम्हारे विनष्ट होने से भगवान् हमारे इच्छानुरूप विहार करते रहेंगे। देवगण के इस

कथन के समय ही तृणावर्त्त की दशा तद्रूप हो गई थी। अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ भूतल में वह गिर गया था॥२२॥

नवा नो अग्न आभर स्तोतृभ्यः सुक्षितीरिषः।
ते स्याम य आनृचुस्त्वादूतासो दमेदम इषं स्तोतृभ्य आभर॥२३॥

ऋ. ३-८-२३/ ५।६।८

ततस्त्रि-चतुर्वार्षिकं कृष्णं गव्यार्थिनो गोपाः प्रार्थयन्ते। अग्निं तं मन्यत इति सूक्तेन। तत्रायं मन्त्रः। नवान इति। हे अग्ने! जाठररूपेणान्तस्थ भगवन्! नो अस्मभ्यं स्तोतृभ्यः नवाः क्षीरमण्डदधिमस्तुनवनीताद्या यज्ञेप्यप्राप्ता इषोन्नानि आभर आहर सुक्षितीः कल्याणभूमीः। याभिर्भक्षिताभिरायुसत्त्वबलारोग्यादिकं भवति, तादृशीभिरित्यर्थः। कथम् एतालभ्यन्त इत्यत आहुः, त इति। देवास्त्वां पुरा आनृचुः- स्तुतावन्तः। त एव वयं दमे दमे गृहे गृहे त्वादूतासः त्वद्दूताः स्याम यस्य गृह्यं यद्यदस्ति तत् तत्तुभ्यं निवेदयिष्याम इत्यर्थः। इषं स्तोतृभ्यः आभरेति पुनर्वचनमादरार्थम्॥२३॥

अनुवाद- अनन्तर तीन चार वत्सर वयस्क श्रीकृष्ण के निकट गव्यार्थी गोप इस मन्त्र से प्रार्थना करते हैं। यह मन्त्र "अग्निं तं मन्यत" अर्थात् उनको ही अग्नि मानना- इस सूक्त के अन्तर्गत। हे अग्न! हे जठराग्निरूप अन्तरस्थ भगवन्। "नः" हमारे समान "स्तोतृभ्यः" स्तुतिकारकगण के निकट से "नवाः" - क्षीरमस्तु, दधिमण्ड नवनीतादि यज्ञे अप्राप्त, "इषः"- अन्न समूह "आभर"- आहरण करो। कारण, उक्त अन्न समूह "सुक्षितीः"- कल्याण भूमि, उसको भक्षण करने से आयु सत्त्व, बल, आरोग्यादि लाभ होता है। कैसे उस अन्न का लाभ होगा? कहते हैं, जो देवगण पहले तुमको स्तव किये थे "ते" वे देवगण ही "हम सब" "दमे दमे" गृहगृह में "त्वादुतासः" तुम्हारे दूत स्वरूप "स्याम" होंगे। अर्थात् जिसके घर में जो जो द्रव्य है उस सबको तुम्हारे निकट निवेदन करेंगे। अतएव "इषं" उक्त अन्नादि "स्तोतृभ्यः" ये स्तुतिकारकगण के निकट से सादर "आभर" आहरण करो, यह ही हमारी प्रार्थना है॥२३॥

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीनीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्य्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आभर॥२४॥

ऋ. ३-२-२३/ ५।६।९

एवं तेषामिष्टमनुतिष्ठतामपि यदा वञ्चयते तदा त एनमुपालम्भते, उभे इति। हे सुश्चन्द्र सुतरामाह्लादकेति साकूतं सम्बोधनम्, त्वं उभे सर्पिषां पूर्णे दर्वी दर्व्यौ स्वस्यैवासनि आस्ये श्रीणीषे मिश्रयसि नत्वेकामपि बहुभ्योऽस्मभ्यः प्रयच्छसि एवं मा कुर्व्वित्यर्थः। उतो अपि च नः अस्मान् उत्पुपूर्य्याः उत्कर्षेण पूरितवानसि हविष्यैः पूर्वं उक्थेषु तथा इदानीमपि पूरयस्वेत्यर्थः शवसः बलस्य पते स्वामिन्निषं स्तोतृभ्य आभर। यद्वा उभे अपि दर्व्यौ त्वमेव आसनि श्रीणीषे? पिवास्मांस्तर्पयसीत्याश्चर्य्यमित्यर्थः। विम्बरूपे त्वयि तुष्टे त्वत् प्रतिविम्बानामस्माकं तुष्टिरर्थसिद्धेति भावः॥२४॥

अनुवाद- इस प्रकार इष्ट कामिगण को भी श्रीकृष्ण जब वञ्चित करते हैं, तब वे सब श्रीकृष्ण को तिरस्कार करते हैं, इस मन्त्र में उस भाव का प्रकाश हुआ है। "हे सुश्चन्द्र!" हे आह्लादक देव! तुम "उभे सर्पिषो दर्वी" - दो घृतपूर्णदर्वी स्वीय "आसनि" वदन विवर में 'श्रीनिष' मिश्रित कर रहे हो, अर्थात् दोनों हाथों से खा रहे हो। तुम जो एकक इस प्रकार भक्षण कर रहे हो, किन्तु इस प्रकार न करो, हमें भी प्रदान करो। 'उतः' अपिच 'उक्थेषु' इसके पहले यज्ञ समूह में "नः" हम सबको 'उत्पुपूर्य्याः' जिस प्रकार उत्कर्ष के साथ पूर्ण मनोरथ किए थे, सम्प्रति उस प्रकार अभिलाष पूर्ण करो। अतएव 'हे शवसम्पत' हे बल के अधिपति! "इषं" अन्नादि "स्तोतृभ्यः" स्तुतिकारीगण के निकट से "आभर" आहरण कर। अथवा तुम दर्वीद्वय को वदन में निहित कर हम सबको सन्तर्पित कर रहे हो, यह अतीव आश्चर्य्य का विषय है। कारण-विश्वरूपी तुम्हारी तृप्ति से तुम्हारे प्रतिविम्बरूप हम सबकी परितृप्ति हो रही है॥२४॥

अवस्म यस्य वेषणे स्वेदं पथिषु जुह्वति।
अभीमह स्वजेन्यं भूमा पृष्ठेव रुरुहुः॥२५॥

ऋग्वेद- ३-८-२४/ ५।७।५

अवस्मेति। यस्य नवनीतादेः वेषणे अवस्थापने व्यवस्थार्थं स्वेदं

घर्म्मोदकं पथिषु मार्गेषु गोपाः क्षीरादिभाजनानि वहन्तो जुह्वतिस्म श्रमजेन घर्मोदकेन भुवं क्लेदयन्तिस्म, एवं श्रमागतमपिगव्यं एते वयं अभीमतः साकल्येन अह निश्चितं स्वजेन्यं स्वस्यजेन्यं स्वाधीनं कर्त्तुं भूम प्रभवाम इत्यालोच्य ते पृष्ठा पृष्ठानि रुरुहुरिवेत्यवार्थः। एकस्य पृष्ठे परस्तस्यापि पृष्ठेऽपर इत्येवं कर्मणारुहु अत्युच्च स्थानस्थमपि क्षीरादिकं स्वायत्तं कुर्वन्त्येवेत्यर्थः॥२५॥

अनुवाद- इस मन्त्र में श्रीकृष्ण के नवनीत हरण वृत्तान्त कथित है। "यस्य" जो नवनीतादि का "अववेषणे" अवस्थापन की व्यवस्था करने के निमित्त गोपगण दधि दुग्धादि का भाण्ड वहन कर ले जाते जाते "पथिषु" पथ में "स्वेदं" घर्मवारि 'जुह्वतिस्म' आहुति प्रदान करते हैं अर्थात् श्रमजनित स्वेद जल से धरातल को अभिषिक्त करते रहते हैं। इस प्रकार विपुल परिश्रम के सहित आनीत गव्य समूह को हम सब 'अर्भी' सब जन एकमत होकर 'अह' निश्चय ही 'स्वजेन्यं' अपना आयत्त तथा हस्तगत करने में 'भूम' समर्थ होंगे। इस प्रकार आलोचना करके वे सब 'आपृष्ठेव रुरुहुः' एकके पीठ में एकजन, उसके पृष्ठ में और एक जन, इस रूप से आरोहण कर अत्युच्च स्थान स्थित क्षीरादिको करायत्त करवाये थे॥२५॥

यं मर्त्त्यः पुरुस्पृहं विदद् विश्वस्य धायसे।
प्रस्वादनं पितु नाम स्तताति्श्चिदायवे॥२६॥

ऋ. ३।८।२५/ ५।७।६

एवं अनेकरूपायैर्गव्यमश्नाति भगवतीमन्त्रस्तदाशयं विवृणोति। यं मर्त्त्य इति। यं श्रीकृष्णं विश्वात्मानं विश्वस्य धायसे तृप्तये पुरुस्पृहं बहुकामयन्तं अतएव पितूनां नवनीतानां प्रस्वादनं आस्वादनं आस्वादनकर्त्तारमुपलभ्य मर्त्त्यः आयवे जीवनाय अस्तताति गृहस्य पालनं कर्त्तव्यत्वेन विदत् अविदत् ज्ञातवान्। अयमर्थः। यद्येवं बालाः सर्वं गव्यं मुष्णन्ति तर्हि जीवनलोपो भविष्यतीति गृहसंरक्षणे जनः प्रवर्त्ततं भगवांस्त्वल्पेपि गव्ये मया आस्वादिते त्रैलोक्य-सन्तर्पणजं पुण्यमेते प्राप्स्यन्तीति चौर्य्येण तदास्वादयतीति॥२६॥

अनुवाद- इस प्रकार विविध उपाय अवलम्बन कर श्रीकृष्ण नवनीतादि भक्षण करने लगे। इस मन्त्र में उसका विवरण है। 'यं विश्वस्य धायसे

पुरुसपृहं' जो निखिल विश्व की परितृप्ति साधन के निमित्त अतिशय स्पृहान्वित होकर "पितूनां प्रस्वादनं" नवनीतादि का भक्षण किए थे, उन विश्वात्मा कृष्ण को प्राप्त कर 'मर्त्त्यः' मानवगण, "चित् आयवे" जीवन के उत्कर्ष साधन के निमित्त "अस्ततातिं" घर का पालन करना अवश्य कर्त्तव्य है, यह जान गए थे। फलतः यदि वे बालकगण यावतीय गव्य सामग्री इस प्रकार चोरी कर नष्ट कर देते हैं तो हमारे जीवन धारण करना असम्भव होगा। यह मानकर, गोकुलवासिगण गृह संरक्षण में प्रवृत्त हो गये। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण, उन सबके सामान्य नवनीतादि आस्वादित होने पर भी वे सब त्रैलोक्य सन्तर्पण के निमित्त अनेक पुण्य प्राप्त करेंगे, इस अभिप्राय से चोरी करके भी उन सबके नवनीतादि का आस्वादन करने लगे। इससे श्री भगवान् की गोकुल प्रीति की पराकाष्ठा प्रदर्शित हुई है॥२६॥

अयं रोचयदरुचो रुचानोऽयं वासयद्वृत्येन पूर्वीः।
अयमीयत ऋतयुग्भिरश्वैः स्वर्विदा नाभिना चर्षणिप्राः॥२७॥

ऋ. ४-७-११/ ६।३९।४

तमेवं कुर्वाणं निगृह्य गोपीजनो यशोदामानीय वदति, अयं रोचयदिति, अयं तव पुत्रः अप्रकाशमानान् गोप्यस्थानेऽपि स्थितान् क्षीरादीन् रसान् रोचयत्। भोक्तुं रोचयते। पुनश्च रुचानः स्तेनोप्यस्तेनवद्दीप्यमानो धृष्टत्वं करोतीत्यर्थः। अयं उपालभ्यमानः पूर्वीः स्वापेक्षयातिप्रौढ़ा अपि नारीः विवासयत् विवसनाः करोति। एवं व्याकुलीकृत्य पलायत इत्यर्थः। ऋतेन शपथेनैतत् वदामो न तु तद्द्वेषेण। तर्हि बह्वीभिर्मिलित्वा कुतो न ध्रियते तत आहुः। अयं ऋतयुग्भिर्वेगवद्भिरिति यावत्। अश्वैरीयते लभ्यते वेगवतोऽश्वात् अपि अधिकं धावतीत्यर्थः। कीदृशोऽयम्। स्वर्विदा स्वःभक्षणसुखं विन्दतीति स्वर्वित् तेन सुखमात्रार्थिना नाभिस्थजाठरेण निमित्तेन चर्षणिप्राः चर्षणीः प्रजाः प्लायते लङ्घयतीति चर्षणिप्लाः। रलयोः सावर्ण्यात् प्राः। मिष्टार्थी अयं लोकमर्य्यादां लङ्घयतीत्यर्थः। वस्तुत स्त्वयमासामभिप्रायः। अयं चिदात्मा स्वयं रुरुचानः प्रकाशमानः अरुचः अरोचमानान् जड़ान् घटादीन् रोचयत् प्रकाशयति। ''तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति'' श्रुत्यन्तरात्। अयमेव विशेषेण पूर्वीः प्रजाः

अव्यक्ताद्याः स्वयमनृताः सतीः स्वेन ऋतेन सत्येन वासयति। अयमेव जड़स्यानृतस्य च प्रपञ्चस्य स्फूर्त्तिः सत्ताप्रद इत्यर्थः। अयं ऋतयुग्भिः सत्येन वस्तुना सम्बन्धैरिन्द्रियाश्वैरन्तर्मुखैरिन्द्रियैर्मनोमात्रतां गतैरीयते गम्यते स्वर्विदा नाभिना सगुणब्रह्मोपलब्धिस्थानेन नाभिना आलम्बनीकृतेन ईयते। नाभ्या उपरि तिष्ठति। ''विश्वस्यायतनं महदिति'' श्रुतेः। चर्षणिप्राः पूरको व्यापक इत्यर्थः॥२७॥

अनुवाद- एकदा जनैक गोपाङ्गना उन चौर चूड़ामणि श्रीकृष्ण को निगृहीत कर श्रीयशोदा के निकट लाकर कहने लगी। 'अयं' यह तुम्हारे पुत्र, "अरुचः" अप्रकाशमान गोपनीय स्थानस्थित क्षीरादि "रोचयत्" आस्वादन करता है। पुनश्च 'रुचानः' चौर होकर भी अचौर के समान दीप्यमान धृष्टता प्रकाश करता है। "अयम्" यह बालक, तुम्हारे गुणवान् पुत्र, "पूर्व्वीः" निजापेक्षा अति प्रौढ़ा रमणीगण को भी "विवासयत्" विवसना करता है। सुतरां वे सब लज्जाकुलिता होकर दौड़कर भाग जाती हैं। "ऋतेन" यह बात मैं विद्वेष से नहीं कहती हूँ। मैं शपथ कर कहती हूँ। तब हम सब अनेक जन मिलित होकर भी पकड़ न सकीं। तब "अयं" यह क्षुद्र बालक, ऋत युग्भिः अश्वैः ईयत अतिशय वेगवान् अश्व की अपेक्षा से भी अधिक वेग से धावित होता है। एवं 'स्वर्विदा' केवल भोजन सुखाभिलाषी होकर भी "नाभिना" नाभिस्थ जठराग्नि के सन्तर्पण के निमित्त "चर्षण प्राः" प्रजागण को भी लङ्घन कर रहा है, अर्थात् भोजनार्थी होकर भी लोक मर्य्यादा का उल्लङ्घन कर रहा है।

वस्तुतः उस गोपाङ्गनागण के वाक्य का तात्पर्य यह है कि- "अयं" यह चिदात्मा स्वयं "रुचानः" प्रकाशमान होकर "अरुचः" अप्रकाशमान जड़ घटादि में "रोचयत्" प्रकाश करते हैं। इस विषय में अन्य श्रुति भी प्रमाण है, यथा "तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति" यह ही "वि" विशेषण रूप में पूर्वीः अव्यक्तादि प्रजा स्वयं असत्य होने से स्वीय असत्य के आवरण से आच्छादित करते रहते हैं। फलतः यह बालक मिथ्या जड़ प्रपञ्च का स्फूर्त्ति सत्ताप्रद है। 'अयं ऋत युग्भिः अश्वैरीयते' सत्य वस्तु के सम्बन्ध हेतु इन्द्रियरूप अश्वगण अन्तर्मुखी होकर मनोमात्र गत होने पर भी यह अधिगम्य होता है, 'स्वर्विदा नाभिना ईयते' सगुण ब्रह्मोपलब्धि स्थान नाभिपद्म के उपरि भाग के हृदय पद्म

में यह स्थित है। इस विषय में श्रुति प्रमाण इस प्रकार है, यथा "विश्वस्यायतनं महदिति" एवं यह ही "चर्षणि प्राः" विश्वपूरक एवं व्यापक है॥२७॥

यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव।
उलूखल सुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥२८॥

ऋ. १।२।२५/ १।२८।४

एवं गोपीभिरावेदिते उलूखले यशोदा दाम्ना वध्यमानमालक्ष्य ऋषिराह। यत्र मन्थामिति यत्र उलूखले महत्तरमस्थां सगर्गरं विवध्नते दधिमन्थनार्थं तादृशे उलूखले बद्धाः सुताः उलूखलसुताः तेषाम्। मध्यमपदलोपी समासः बहुलं पूजायां। उलूखले बद्धस्य सुतस्य यमित वा इव नियमनायेव रश्मीन् दाम रज्जुः विशेषेण बध्नते मातरः। परन्तु रश्मीनेवबध्नते न तु रश्मिभिः सुतमिति भावः। सुतो बद्ध इति प्रतीतिस्तु तासां भ्रान्तिरित्यर्थः। हे इन्द्र! ईदृशान मातृजनान् उ निश्चितं अव इत् पालयैव जल्गुलः जड़ानि गावः इन्द्रियाणि येषां ते जड़गवाः अतिमूढ़ाः गोपजनाः तान् लाभि स्वीयत्वेनादत्त इति जड़गुलः। अकार-लोपोड़कारस्य लकारश्च छान्दसः। परिगृहीतानां पालनमावश्यकमित्यर्थः॥२८॥

अनुवाद- गोपाङ्गनागण के उस प्रकार आवेदन करने से श्रीयशोदा श्रीकृष्ण को उलूखल में दाम द्वारा बाँधने लगी, ब्रह्मवादी ऋषि ध्यान नेत्र से अवलोकन कर कहते हैं। "यत्र" जिस उदूखल में, महत्तर 'मन्थां' मन्थनदण्ड गर्गरी अर्थात् दधिभाण्ड के साथ दधिमन्थन के निमित्त बाँधा गया है तादृश "उदूखल सुतानां" उदूखल में जिनका पुत्र आबद्ध है, उनके उन उदूखलबद्ध पुत्र को "यमित वा इव" नियमन के निमित्त वे 'रश्मीः' रज्जु समूह को "विबध्नतें" विशेष रूप से बाँधने लगीं। रज्जु के द्वारा पुत्र को बाँधने में असमर्थ रहीं। पुत्र बाँधा गया है, यह प्रतीति उनकी भ्रान्ति मात्र है, अतएव हे 'इन्द्र!' हे भगवन्! ईदृश मातृगण का "उ" निश्चित ही "अव इं" पालन करो। कारण वे सब "जल् गुलः" जड़ेद्रिय विशिष्ट अतिमूढ़ गोपाङ्गना हैं, उन सबका ग्रहण जब आपने परमात्मीय रूप में किया है, तब उक्त परिगृहीत जनगण का पालन करना अवश्य कर्त्तव्य है॥२८॥

ता नो अद्य वनस्पती ऋष्वावृष्वेभिः सोतृभिः
इन्द्राय मधुमत् सुतम्॥२९॥

ऋ. १।२।२६/ १।२८।८

अत्रान्तरे बन्धनमङ्गीकृत्य तस्य वैयर्थ्यं माभूदिति यमलार्ज्जुनमन्तरेण सहोलूखलेन गत्वा उलूखलं च तिर्य्यक्कृत्वा वृक्षावुन्मूलितवान्। तौ चोन्मूलितौ पुनर्देवताभावं प्राप्य प्रतिष्ठमानौ नलकूवरमणिग्रीवौ। व्रजजन आह। ता नो अद्येति। भो वनस्पती ता तौ युवां नोस्माकं अद्य ऋष्वौ रोषणौ उन्मूलितत्वेन क्लेशकरौ ऋष्वेभिः क्लेशदैः सोतृभिः प्रसेवकारणैः कर्मभिर्हेतुभिर्जातौ युवां कालेनोन्मूलितौ दृष्ट्वास्माकं महद्दुःखं जातमित्यर्थः। तथापि इन्द्राय व्रजपतये मधुमत् मधुरं रसं सुतं प्रयच्छन्तं अस्मासु दया कुरुतमित्यर्थः॥२९॥

अनुवाद- अतः पर बन्धन अङ्गीकार करने पर भी वह निष्फल नहीं हुआ। श्रीकृष्ण यमलार्ज्जुन के मध्य में उलूखल के सहित गमन कर उस उलूखल को टेढ़ा करके वृक्षद्वय को उन्मूलित किये थे। उस उन्मूलित वृक्षद्वय पुनर्वार देव भाव प्राप्त कर नल कुवर मणिग्रीव नामक व्रज जन रूप में प्रतिष्ठित हुए। इस मन्त्र में उक्त विवरण वर्णित है। भो वनस्पतीः' हे वनस्पतिद्वय! "ता" तुम दोनों उन्मूलित होने से 'न' हमारे अद्य "ऋषौ" अतीव क्लेशकर हुआ है। "ऋष्येभिः" सोतृभिः' क्लेशप्रद कर्मसूत्र से ही तुम दोनों वृक्ष हुए थे, सम्प्रति कालक्रम से तुम दोनों को उन्मूलित देखकर हम सब दुःखी हुए हैं, तथापि "इन्द्राय" व्रजपति को तुम दोनों "मधुमत्" सुमधुर रस "सुतं" प्रदान कर रहे हो। अतएव हमारे प्रति दया करो॥२९॥

क उ नु ते महिमनः समस्याऽस्मत् पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः।
यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः॥३०॥

ऋ. ८।१।२५/ १०।५४।३

तत उलूखलात् मात्रा मोचितः सादरमवेक्ष्यमाणः तस्मै वैश्वरूप्यं प्रकाशितवान् अवेद्विन्द्रजलगुल इति मुनेर्वाक्यं स्मरन्। तच्च दृष्ट्वा माता प्राह। क उ नु त इति। हे परमेश्वर! ते तव महिमनः माहात्म्यस्य समस्य कृत्स्नस्य अन्तःके उ नु के निश्चिततया ये अस्मत्तः पूर्वे ऋषयोपि आपुस्ते के न

केपीत्यर्थः। अत्र हेतुमाह। यदि यत् यतः मातरं मां भूमिं पितरं दिवं च साकं सहेदं युगपत् कृत्स्नं जगदित्यर्थः। स्वायास्तन्वः सकाशात् अजनयथाः प्रादुर्भावितवानसि। अतस्तव माहात्म्यं दुरधिगममित्यर्थः ॥३० ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्य्यादाधुरन्धर चतुर्धरवंशावतंस गोविन्दसूरिसूनोः
श्रीनीलकण्ठस्य कृतौ सोद्धृत मन्त्रभागवत-व्याख्यायां
मन्त्ररहस्य प्रकाशिकायां गोकुलकाण्डः प्रथमः ॥१ ॥

अनुवाद- अनन्तर जननी श्रीयशोदा पुत्र श्रीकृष्ण को उलूखल से बन्धन मुक्त कर जब सादर पूर्वक उनके वदनकमल का दर्शन करने लगीं, तब श्रीकृष्ण जननी के समक्ष में विश्वरूप प्रकट किए थे। "अवेद्विन्द्र जल्गुलः" इस मुनिवाक्य का स्मरण पूर्वक जननी श्रीयशोदा उस विश्वरूप को देखकर कहने लगी "हे परमेश्वर! "ते" तुम्हारी "महिमानः समस्य" महिमा की "अन्त के उनु" अवधि को कौन जानकर वर्णन कर सकता है? जो जन हमारे पूर्व में विद्यमान थे, वे ऋषिगण भी उसका अन्त नहीं प्राप्त किए थे। "यत्" कारण तुम ही माता को पिता को अथवा मातृभूमि पितृस्वर्ग के साथ युगपत् इस निखिल विश्व को "स्वाया स्तन्वः" निजदेह से "अजनयेथाः" प्रादुर्भूत किए हो, अतएव तुम्हारी महिमा दुरधिगम्य है ॥३० ॥

इति श्री मन्त्र भागवतस्यानुवादे प्रथमः गोकुलकाण्डः ॥१ ॥

द्वितीयः काण्डः

श्री वृन्दावन काण्डः

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरूपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥१॥

ऋ. २।३।२१/ १०।९५।१४

अथ वृन्दावनं प्रति वृकभयाद् भगवतः प्रस्थानमन्यसंवादमुखेनाह। सुदेव इति। सुदेवः आद्यवर्णलोपात् वासुदेवः। यथोक्तं वृहद्देवतायां– "वर्णस्य वर्णयोर्लोपो वहवृचां व्यञ्जनस्य वा। अत्रानीति कपिनाभादनोयामीत्याद्यासुचेति। अत्रान्यस्मै पङ्क्तिः सम्भवन्ति वर्णस्य लोपः। अमत्राणीत्यपेक्षिते प्रिया तष्टानि मे कपिरित्यत्र वर्णयोर्लोपः। वृषाकपिरित्यपेक्षिते। अयं नाभीवदति वलगुवो गृहे दनो विश्वमिन्द्र मृध्रवाच इत्यादौ बहूना वर्णानां लोपः, अयं नाभानेदिष्ट इत्यपेक्षिते। दानमनसो विश्व इति चापेक्षिते। तत्त्वायामीत्येक लोपः याचामीत्यपेक्षिते। अघासु हन्यन्ते गावः मघास्वित्यपेक्षिते। यद्वा वासुदेवः शोभनेन देवेनाधिष्ठितो व्रजो वा सुशोभनश्चासौ देवश्चेति वा कृष्णाः। अद्य सद्यएव वृकोपद्रवानन्तरं अनावृत् आवृत्तिवर्जितं यथा स्यात्तथा प्रपतेत् प्रकर्षेण गच्छेत्। परावतं परमां दूराद्दूरं गतं वै। कुतोऽस्य गमनमत आह। अधेति। अध अथ पक्षान्तरे यदि न गच्छेत् अयं तर्हि निर्ऋतेः पृथिव्या उपस्थे अङ्के शयीत वृकैर्हतो म्रियेतेत्यर्थः। अध अनन्तरं एनं वृकास्त एव हन्तारो रभसासः शीघ्रतराः अद्यु भर्क्षयेयुः। यस्मात् सुदेवोऽपि मरणावस्थइव दूरात् दूरतरं गतः। तस्मात् तयापि आध्यात्मिकेभ्यः कामादिभ्यो भेतव्ययिति पुरुषं प्रत्युर्वशीवाक्यम्। तदिदं हरिवंशे उपवृंहितवृकभयात् वृन्दावनं प्रति गोकुलात् गोपाला गता इति॥१॥

अनुवाद- अनन्तर वृक के भय से श्रीकृष्ण वृन्दावन गमन कर रहे हैं, वह संवाद दूसरों के द्वारा वर्णित हुआ है। "सुदेवः" वासुदेवः इस प्रकार

आद्य वर्ण लोप का नियम वृहद् देवता नामक ग्रन्थ में वर्णित है। यथा- "वर्णस्य वर्णयोर्लोपोवृहवृचां व्यञ्जनस्य वा इत्यादि" अथवा "सुदेव" वाक्य से शोभन देव के द्वारा अधिष्ठित व्रजधाम का बोध होता है, किम्वा शोभन जो देव- अर्थात् श्रीकृष्ण, वृकोपद्रव से सन्तस्त्र होकर "अद्य:" आज ही "अनावृत्" आवृति वर्जित रूप में अर्थात् पुनर्वार कभी भी गोकुल में प्रत्यावर्त्तन नहीं करेंगे, इस रूप में वृन्दावन प्रस्थान कर रहे हैं। सुतरां आप "परावतं परमां" दूर से दूरान्तर में "गतं वा उ" गमन कर रहे हैं। क्यों वहाँ जा रहे हैं? "अध" पक्षान्तर में यदि आप गमन नहीं करते हैं तब निर्ऋते: उपस्थे अशयीत" पृथिवी के अङ्क में चिर शायित होंगे। अर्थात् वृक द्वारा निधन प्राप्त होंगे। "अध" अनन्तर "एनं" श्रीकृष्णं श्रीकृष्ण को "वृका:" तदीयहन्तारक वृकगण "रभसास:" अविलम्ब में "अद्यु:" भक्षण करेंगे। कारण आप सुदेव अर्थात् शोभन देव होकर भी मरणभयशील मनुष्य के समान दूर से दूरान्तर में गमन करते हैं। अतएव आप जो आध्यात्मिक कामादि से भी भीत होते हैं उसमें सन्देह नहीं है। यह पुरुष के प्रति ऊर्वशी का कथन है। श्री हरिवंशस्थ विष्णु पर्व में यह विवरण विशद रूप में है। गोपगण वृक के भय से गोकुल परित्याग कर वृन्दावन आगमन किए थे॥१॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथोवयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥२॥

ऋ. ७।३।२५/ १।१६४।१०, अथर्व ७।७३।११, नि. ११।४४

तत्र गत्वा गवां लालनं करोतीत्यृषिराह। सूयवसादिति। एकवचनं जात्यभिप्रायम्। सुशोभनं यवं तृणमत्तीति सूयवशात् भगवती ऐश्वर्य्यवती हि प्रसिद्धा अस्मभ्यं भूया: भव अथो वयमपि भगवन्त: स्याम। अद्धि भक्षय तृणमिति पुनरुक्ति: अघ्न्ये अघघ्नी विश्वदानी सर्वदा आचरन्ती पर्य्यटन्ती शुद्धं उदकं पिब॥२॥

अनुवाद- वहाँ जाकर किस प्रकार गोचारण किए थे- ब्रह्मवादी ऋषि इस मन्त्र में उसे कहते हैं। "सुयवसात्" तुम सब यह सुशोभन तृणादि भक्षण पूर्वक "भगवती हि भूया:" हमारे लिए प्रसिद्धा ऐश्वर्य्यवती बनो।

"अथो वयं भगवन्तः स्याम" अनन्तर हम सब ऐश्वर्य्यवान् होंगे। अतएव हे "अघ्नो!" हे पापनाशिनीवृन्द! तुम सब "विश्वदानीं आचरन्ती" सर्वदा सुख से विचरण करते करते "तृणं अद्धि" तृणभक्षण करो, एवं "शुद्ध उदकं पिब" यमुना का शुद्ध जल पान करो॥२॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां विलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघम्वाँ अपतद्ववार॥३॥

ऋ. १।३।३८/ १।३२।११

कालियदमनमाह, दासपत्नीरिति। दस्यन्ति उपक्षियते लोका अनेनेति दासो हिंस्रः तस्य पत्नी सहधर्मचारिणीः हिंस्राः विषदूषिताः आपः अतिष्ठन् आसन् रतः अहिः कालियाख्यः सर्पः गोपायतीति गोपाः स्वामी यासां ताः अहिगोपाः अतएव निरुद्धाः इतरा भोज्याः पणिना चोरछन्देन गाव इव निरुद्धाः। अपां मध्ये विलं अहिगृहस्य द्वारं यदपिहितं अद्भिरेवाच्छादितं आसीत् तत्वृत्रं जघन्वान् शत्रुं जिगमिषुः हन्तिरत्र गत्यर्थः। अपववार अपावृणोत् उद्घाटितवान् तीरस्थं तरुमारुह्य अत्युच्चात् स्थानात् यमुनायां निपत्य कालियमधि अभूदित्यर्थः॥२॥

अनुवाद- अनन्तर इस मन्त्र में कालिय दमन लीला वर्णित हो रही है। "दासपत्नी" जो दस्यु के समान लोक समूह को विनष्ट करता है, उसका नाम दास अर्थात् हिंसा। उसकी सहधर्मचारिणी पत्नी के समान हिंसा विषदूषिता "आपः" यमुना के जल राशि "अतिष्ठन्" अवस्थित है। उसमें "अहिगोपाः" कालीयाख्य सर्प, उस दास पत्नी स्वरूपा जलराशि के गोप अर्थात् रक्षक स्वामी था। इस हेतु उक्त जल प्रवाह "पणिना गवः इव" पणि नामक असुर जिस प्रकार गो समूह को अपहण कर विल के मध्य में निरुद्ध कर रखता है उस प्रकार दूसरे के अपेय रूप में रहा अर्थात् कालिय ह्द में परिणत हो गया था। उस जल में "विलं" सर्प का गृह द्वार "यत् अहिहितं आसात्" जिसके अङ्ग के द्वारा आच्छादित था। "तं वृत्रं" उस प्रवाह रोधकारी शत्रु को "जघन्वान्" विनाश करने के निमित्त भगवान् श्रीकृष्ण-"अपववार" एक उपाय उद्घाटन किए। आप तीरस्थ वृक्ष में आरोहण कर उच्च स्थान से यमुना के मध्य में गिरकर कालिय नाग के प्रति धावित हुये थे॥३॥

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्यवज्रमधिसानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रावृत्रो अशयद्व्यस्तः॥४॥

ऋ. १।२।३७/ १।३२।७

ततश्च किमभूदित्याह! अपादिति। अपात् पादहीनः अहस्तः हस्तहीनः। सर्पत्वादेव ईदृशोपि इन्द्रं कृष्णं प्राप्य अपृतन्यत् अयुध्यत् तेन सह युद्धं कृतवान्। अस्य कालियस्य सानौ मूर्द्धनि वज्रं आजघान भगवत्पदचिह्नभूतं शिरस्याजगाम तदङ्कितं शिरोभूदित्यर्थः। सोऽयं वध्रिश्चर्म्मपट्टिका तत्सदृशो निस्तेजाः कालियो वृष्णो हरेः प्रतिमानं प्रतिचिह्नं बज्ररेखारूपं बुभूषन् भूषामिवात्मनः कुर्वन् अशयत् शयनं चकार निरुद्यमोभूत्। कीदृशः। पुरुत्राव्यस्तः अनेकैः प्रकारैः निरस्तः॥४॥

अनुवाद- अतः पर क्या हुआ ? इसका विवरण इस मन्त्र में परिव्यक्त है। "अपादहस्त" हस्त पद हीन कालिय नाग, "इन्द्रं" श्रीकृष्ण को प्राप्त कर "अपूतन्यत्" उनके साथ युद्ध करने में प्रवृत्त हुए। श्रीकृष्ण "अस्य सानौ" कालिय नाग के मस्तक में फण के ऊपर "वज्रं आजस्घ्व न" स्वीय पदाङ्क रूप वज्र प्रहार किए थे। फलतः कालिय नाग के मस्तक ऊपर जैसे खड़े हो गये वैसे ही उसके मस्तक भगवत् पदाङ्कित हो गया। और उस समय ही वह "वृत्रः" जल प्रवाह रोधकारी कालिय "वध्रिः" चर्मपेटिका के समान निस्तेज होकर "वृष्णोः" श्रीकृष्ण का "प्रतिमानं" बज्र रेखारूप पदचिह्न को विभूषण निज मस्तक के भूषण स्वरूप कर एवं "पुरुत्राव्यस्तः" अनेक प्रकार से सन्ताड़ित, निरस्त होकर "अशयत्" शयन किया। अर्थात् निरुद्यम हो गया॥४॥

नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्य्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव॥५॥

ऋ. १।२।३७/ १।३२।८

नदन्नेति। नदन् न शोणादिकं नदमिव शयानं दीर्घाकारेणापतितममुयानेन कृष्णेन भिन्नं निर्जितं अनु पश्चात् आपः यमुना जलानि अतियन्ति— अत्युत्कर्षेण गच्छन्ति। कीदृश्यः। मनोरुहाणाः हृदयङ्गमा इत्यर्थः। याः अपः चित्पूर्वं वृत्रः कालियः महिना माहात्म्येन पर्य्यतिष्ठत् तासामेव सनिधौ शयनार्थे वा अहिः

कालियः पत्सुतः पद्भ्यां पीड़ितः सन् शेते इति पत्सुतःशी। समासेपि विभक्त्यलोप आर्षः। एवंविधा बभूव॥५॥

अनुवाद- इस प्रकार बल प्रवाह रोधकारी कालिय "नदं न" शोण दामोदरादि नद के समान, "शराशं" दीर्घाकार में परिणत हुआ। "अमुया भिन्नं" श्रीकृष्ण के द्वारा निर्ज्जित होने से "मनोहरणकारी आपः" यमुना का रुद्ध जल प्रवाह "अतियन्ति" अतीव उत्कर्ष के साथ प्रवाहित होने लगा। "याः" जो जलराशि "चित्" पूर्व में "कृतोमहिनापर्य्यतिष्ठत्" कालिय की महिमा प्रभाव से निपीड़ित होकर शापित हुआ, "तासां" श्रीकृष्ण के सन्निधान से "अहिः पत्सुतःशीः बभूव" वह कालियनाग भगवान् श्रीकृष्ण के पदद्वय द्वारा निपीडित होकर शायित हुआ सुतरां इस प्रकार से जल प्रवाह भी बाधा से मुक्त हो गया॥५॥

समिन्द्र गर्द्दभं मृणनुवन्तं पापयामुया।
आतून इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ॥६॥

ऋ. १।२।२७/ १।२९।५

अथ शराकारं धेनुकं व्रजनाशायोद्यतमभिलक्ष्य लोको राममाह। समिन्द्रेति, हे इन्द्र ईश्वर! त्वं गर्दभं संमृण, सम्यक् नाशय, कीदृशम्। अमुया अनया त्वं प्रत्यक्षया पापया क्रियया खरतन्वा नुवन्तं पीड़यन्तं। धातुनामनेकार्थत्वात् कर्णाटक भाषा प्रसिद्धेश्च नुवतिरत्र पीड़ार्थः। पापयामुयेत्युभयत्र सुपो या, हे इन्द्र तु पुनः नोऽस्मान् गवादिषु आसंशत तथा लोके अस्मानभिलक्ष्य तादृशो गोपनहं भूयासमिति जन्म आशास्ते तथास्मान् कुर्वित्यर्थः। शुभ्रिषु शुभ्ररूपवत्सु। सहस्त्रेषु अनन्तेषु तुवीनि पूर्णानि मघानि धनानि यस्मिन्निति तुवीमघ। दैर्घ्यं सांहितिकं। एवमुक्तमात्रे रामस्त जघानेति ज्ञेयम्॥६॥

अनुवाद- अनन्तर खराकृति धेनुकासुर को व्रज नाश करने में उद्यत देखकर व्रज का एक व्यक्ति श्रीबलराम को सम्बोधन कर कह रहा है- "हे इन्द्र" हे ईश्वर! वह "गर्दभं" खराकृति धेनुकासुराकार को "समृण" सम्यक् रूप से निहत करो। "अमुया पापया" वह प्रत्यक्षीभूत असुर पापक्रिया से हम

सबको "नुवन्तं" प्रपीड़ित कर रहा है। "तु" पुनश्च "हे शुभ्रिषु सहस्राषु तुवीमघ।" हे शुभ्ररूपवत्ताय, अनन्त स्वरूप, पूर्णैश्वर्य्य सम्पन्न! हे इन्द्र!" हे बलदेव! "न:" हमें "गोषु अश्वेषु" गो अश्वादि के सम्बन्ध में "आंशंसय" आश्वस्त करो, अथवा हमें इस प्रकार उपयुक्त करो, जैसे लोक समूह हम सबको देखकर अभिलाष करें कि हम सब भी गोप बनेंगे। इस प्रकार कहते कहते ही श्रीबलराम जी ने उस धेनुकासुर को तत्क्षणात् मार डाला ॥६ ॥

यदि ज्ञानामि यदि वेदमस्मि निण्य: सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदामागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नूवे भागमस्या: ॥७॥

ऋ. १।३।२१

अथ गोपरूपिना प्रलम्बासुरेण हृयमाणो राम आह। विजानामीति, इव शब्दो भिन्न क्रम:। यदिदं अपरिमित शक्तिकं ब्रह्मास्मि तदहं न विजानामीव देहावशात् प्रमाद्यतीति न्यायेन जानन्नपि न जानामि इत्यर्थ:॥ त्वदनुग्रहं विना स्वीयमैश्वर्य्यं आविर्भावयुतं न शक्नोमीतिभाव:। कुत एवम्। मनसा बन्धनेन संनद्ध: पारवश्यं प्रापित:। अतएव निण्य: परप्रणेय: सन् चरामि यदाकाले "ऋतस्य" प्रथमजा: मा आगन्" प्रथमजा: कारणभूत: परमात्मा आगन् आगच्छेत् तदा आह अस्मात् अस्यानुग्रहं प्राप्य इत् निश्चितं अस्या: वच: सकाशात् भागं निर्विद्यतेऽस्मिन् इति भाग: परमात्मा तं अश्नुवे व्याप्नूयाम्। तं गुरुं प्राप्य तत्त्वमसि वाक्यस्यार्थ ऐकात्म्यं लभेयमित्यर्थ: ॥७॥

अनुवाद- अनन्तर एकदा गोपरूपी प्रलम्बासुर बलराम को हरण कर ले जाने लगा तो बलराम ने कहा "यदिदं अस्मि" यह जो मैं अपरिमित शक्ति सम्पन्न ब्रह्म रूप में विद्यमान हूँ, यह मैं "न विजानामि इव" जान नहीं सकता हूँ। देह अवश होने पर जिस प्रकार प्रमाद उपस्थित होता है, उस प्रकार प्रमाद से ही मैं अविवेकी की भाँति जानकर भी जान नहीं पाता हूँ। सुतरां हे कृष्ण! तुम्हारे अनुग्रह को छोड़कर अपना ऐश्वर्य्य को प्रकट करने में मैं असमर्थ हूँ। इसका कारण- मैं "मनसा संनद्ध:" मैं मन के बन्धन द्वारा अर्थात् इन्द्रिय वश होकर पराधीन हो गया हूँ। इसलिए "नित्य: चरामि" दूसरे के वश से सञ्चालित हो रहा हूँ। "यदा" जिस समय "ऋतस्य प्रथमजा: मा आगन्" वेद

के कारण स्वरूप परमात्मा का आगमन मेरे निकट में होगा, उस समय "आत्" उनके अनुग्रह से "इत्" निश्चित ही "अस्याः वाच" उनके उपदेशानुसार "भार्गं" उस भजनीय अखण्ड परमात्मा को मैं "अश्नुवे" प्राप्त करूँगा। अर्थात् उस गुरु को प्राप्तकर "तत्वमसि" वाक्य का तात्पर्य्य जो एकात्मता है, उसे प्राप्त करूँगा ॥७॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति यइत्तद्विदुस्त इमे समासते॥८॥

ऋ. २।३।२१/ १।१६४।३९

ततो कारुणिको भगवान् अपाङेतीति प्राग् व्याख्यातेन मन्त्रेणायमहमस्मि तव भ्रातेति राममाश्वास्यानन्तर मन्त्रेणास्मै वाचस्तत्त्वं निवेदयति। ऋच इति। ऋचः सर्वाः अक्षरे व्यापके परमे व्योमन् अव्याकृत जगत्कारणे पर्य्यवसन्नाः। यस्मिन् व्योम्नि विश्वे देवाः इन्द्राद्याः इन्द्रियाणि वा निषेदुः निषण्णाः सन्ति यस्तत् न वेद स ऋचा केवलं अधतया किं करिष्यति। न किमपीत्यर्थः। य इत् य एव पुरुष धौरेयाः तद्विदस्त इमे नारदाद्याः समासते सम्यक् बाह्यैराभ्यन्तरैर्वा शत्रुभिरनभिभूताः सन्तः आसते॥८॥

अनुवाद- श्रीबलराम की बात को सुनकर करुणामय भगवान् श्रीकृष्ण "अपाङ् प्राङेति मन्त्रे "अयमहमस्मि तव भ्राता" यह मैं तुम्हारा भ्राता हूँ कहकर बलराम को आश्वस्त करने लगे। अनन्तर इस मन्त्र में पूर्वोक्त उपदेश वाक्य का तत्त्व निवेदन करते हैं। "ऋचः" समस्त ऋक्मन्त्र अर्थात् अपरा विद्यात्मक चतुर्वेद "अक्षरे" अविनश्वर सर्वत्र व्यापक "परमे व्योमन्" अव्याकृत जगत् कारण में पर्य्यवसित है। "यस्मिन्" जिस परव्योम में "विश्वेदेवाः" इन्द्रादि देवता समूह "अधिनिषेदुः" अधिष्ठित हैं। "यस्तत् न वेद" जो उसे नहीं जानता है "स ऋचा किं करिष्यति" वे सब ऋक् मन्त्र को पढ़कर क्या करेंगे? अर्थात् कुछ भी फल नहीं होगा "य इत् तद्वदुः" किन्तु जो इस तत्त्व को जानते हैं, "इमे" वे सब ही नारदादि ऋषिगण "सम् आसते" सम्यक् रूप से बाह्याभ्यन्तरस्थित शत्रुगण द्वारा अनभिभूत होकर विराजित हैं॥८॥

विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य।
असत्त उत्सोगृणतेनियुत्वान् मध्वो अंशुः पवत इन्द्रियाय॥९॥

ऋ. ७।३।२५/ ९।८९।६

एवमुक्तमात्रो रामः प्रलम्बे स्वसामर्थ्यमाविश्चकारेत्यृषिराह। विष्टम्भ इति। पृथिव्याः धरुणो धर्त्ता शेषावतारो रामः प्रलम्बस्कन्धस्थः सन् दिवो द्युलोक शिविरस्य विष्टम्भो मध्यम स्तम्भ इव बर्द्धत इत्यर्थः। तत्र हेतुः। विश्वाः सर्वाः क्षितयः ऐश्वर्य्याणि उत अपि अस्य हस्ते सम्विधेयानि सन्ति। हे सोमात्मक विष्णो एवं रूपो यतस्त्वमसि अतो मध्वः मधोः आदिदैत्यस्य अंशुरिवांशुदीर्घः प्रलम्बनामा अंशः ते तव पुरः इन्द्रियाय वीर्य्य प्रकटनाय पवते शीघ्रं यतते यः स नियुत्वान् नितरां यौति युज्यते इति नियुत्प्राणः तद्वान् बलवानपि भारार्त्ततया उत्सः उत्सन्नः सन् गृणते मां मुञ्चेति प्रार्थयते। एवमपि अस्य रूपं असदेव भवति रामभरेण कीलवत् भूमेरन्तः प्रविष्टमित्यर्थः॥९॥

अनुवाद- श्रीकृष्ण के उस प्रकार कहने से ही बलराम ने उस प्रलम्बासुर के प्रति अपनी शक्ति प्रकट की। ध्यानमग्न ऋषि ने उसका वर्णन किया है। "पृथिव्याः धरुणः" धरणी धारक शेषावतार राम प्रलम्ब के स्कन्ध में रहकर ही "दिवः विष्टम्भः" द्युलोक रूप शिविर के मध्य स्तम्भ के न्याय बढ़ गये। उससे "विश्वाः क्षितयः उत" निखिल ऐश्वर्य्य "अस्य हस्ते" उनके हस्ताधीन हुए। हे सोमात्मक विष्णो! आप उस प्रकार ऐश्वर्य्य विशिष्ट होने पर भी "मध्वः" मधु नामक आदि दैत्य का "अंशुः" दीर्घ अंश रूप यह प्रलम्बासुर "त" आपके निवास स्थान व्रज में "इन्द्रियाय पवते" निज वीर्य्य प्रकटन के निमित्त यत्नशील हुये थे। किन्तु "नियुत्वान्" नियुत संख्यक अर्थात् असंख्य प्राणी के न्याय बलशाली यह असुर बलराम के विपुल पीड़न से "उत्सः" उत्सन्न होकर "गृणते" "मुझे छोड़ो मुझे छोड़ दो" कहकर प्रार्थना करने लगे, इससे उसका स्वरूप "असत्" अत्यन्त जघन्य हो गया था। अर्थात् बलराम के भार से वह कील के समान मिट्टी में प्रविष्ट हो गया था॥९॥

हिं कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यांपयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥१०॥

ऋ. २।३।१९/ १।१६४।२७

एवं सर्वोपायै रामकृष्णाभ्यां पाल्यमानानां, गवां महाभाग्यमसहमानो ब्रह्मा वत्सान् वत्सपांश्च हृतवान् तदा स्वयमेव भगवान् सर्ववत्स- वत्सपाकारो जातः। तं गावः गोप्यश्च ज्ञातवत्यः न तु ब्रह्मेत्याह द्वाभ्याम्। हिं कृण्वतीति। अत्र जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। सर्वापि गौर्गोपी च स्वं स्वं पुत्रं दृष्ट्वा प्रेमातिशयात् हिं कृण्वती हिंकारं मूर्ध्नि आघ्राणं च कुर्वती वसुपत्नी वसुः वसुवंश्यो राजा पति पालयिता यस्याः सा वसुपत्नी। न चात्राष्टौ वसवो वसुपदार्थमात्राः। रूद्राणां दुहिता वसूनामिति अन्यत्र वसुदुहितृत्वेन श्रुताया वसुपत्नीत्वायोगात्। वसुश्च हर्य्यश्वादिक्रमेण शूरापरपर्य्यायो वसुदेवस्य पितेति प्रागेव व्याख्यातम्। ततश्च सुराज्ञां वत्सवंशोद्भवं कृष्णं स्वं स्वं वत्सीभूतमिच्छन्ती मनसा अभ्यगात् मनसैव ज्ञातवती अयमिदानीं विष्णुदेवो वत्सरूपेण पातीति। एवम् एवास्मिन् यज्ञे मन्यमाना धेनुः दुहां दोग्ध्रीणां मध्ये अघ्न्या अविघातिनी इयं पयो वर्द्धताम् यथा कृष्णे वत्से सति क्षीरमवर्द्धयदेवमित्यर्थः। महते सौभगाय कैवल्याय अश्विभ्यां दोहनिमित्ताभ्यां सम्प्रदानत्वेन दोग्धृत्वेन वा अश्विनोर्धर्म्मदेवतात्वादध्वर्य्युत्वेन संस्तुतत्वाद्वा। अत्र सेयमिति पदाभ्यां अभ्यगादिति पदाभ्यां च पूर्ववृत्तान्त सूचकाभ्यां वसूनां वसुपत्नीति शब्दाभ्याञ्च श्रीभगवतोपवृंहिता वत्सहरण कथा सूचिता॥१०॥

अनुवाद- विविध उपायों के द्वारा रामकृष्ण गोवत्स का पालन करते रहने से उन वत्सगण के महाभाग्य स्वयं ब्रह्मा का भी असहनीय हो उठा, उन्होंने वत्स व वत्सपालक गोप बालकों को हरण कर लिया। तब भगवान् स्वयं उस अपहृत वत्स वत्सपालगण की मूर्त्ति धारण किये थे। उनको गो गोपीगण जान गयीं थीं अथच ब्रह्मा जान नहीं पाये। आलोच्य मन्त्रद्वय में वह भाव परिव्यक्त हुआ है। "हिं कृण्वती" गैया समूह व ब्रजगोपीगण निज निज पुत्र को देखकर प्रेमातिशय्य वशतः यथाक्रम से हिंकार शिरश्चुम्बन करने लगीं। "वसूनां वसुपत्नी" वसु शब्द- यहाँ अष्ट वसु व वसु पदार्थ का ग्राहक नहीं है। अन्यत्र "रुद्राणां दुहिता वसूनां" इस श्रुति वाक्य में वसु की दुहिता होना बोध होने से वसु पत्नीत्व होना अयोग्य ही होता है। सुतरां यहाँ पर वसु शब्द से हर्य्यश्वादि क्रम से शूरवंश का अपर पर्य्याय भुक्त वसुदेव के पिता का बोध होता है। इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। अतएव उस वसुवंशीय राजा

जिनके पति हैं, अर्थात् पालयिता हैं उनको वसु पत्नी कहा जाता है। उन्होंने बालक श्रीकृष्ण को निज बालक रूप में प्राप्त करने की इच्छा की एवं "मनसा अभ्यागात्" मन मन में जान गईं कि विष्णु ही सम्प्रति वत्स रूप में हमारे दुग्धपान कर पालन कर रहे हैं। इस प्रकार यज्ञ में "सा" उस "दुहां" दोग्ध्रीगण के अर्थात् दुग्धवती धेनुगण के मध्य में "अघ्न्या" अविघातिनी-"इयं" यह धेनु जिस प्रकार "पयोवर्द्धतां" श्रीकृष्ण व वत्स के निमित्त दुग्ध वर्द्धन कर रहीं थीं। उस प्रकार "महते सौभगाय" महासौभाग्य रूप कैवल्य के निमित्त "अश्विभ्याम्" सम्प्रदानत्व व दोहन कर्त्तृत्व दोहन के कारण द्वय रूप में अथवा अश्वि अर्थात् धर्म देवता के निमित्त किम्वा अध्वर्य्यु रूप में संस्तुति के निमित्त दुग्ध वर्द्धन करें। अर्थात् जिस प्रकार श्रीकृष्ण व वत्सगण के निमित्त दुग्ध वर्द्धन किये थे उस प्रकार वर्द्धित करें। आलोच्य मन्त्रोक्त "सा व इयं" इस पद द्वय से व "अभ्यागात्" पद से पूर्व वृत्तान्त सूचित हुआ है। एवं "वसूनां वसुपत्नी" वाक्य से श्रीमद्‌भागवत में वर्णित वत्स हरण वृत्तान्त का सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है॥१०॥

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिं कृणोन्मात वा उ।
सृक्वाणं घर्म्ममभि वावशाना मिमातिमायुं पयते पयोभिः॥११॥

ऋ. २।३।१९/ १।१६४।२८

गौरिति। सैव गौः अनुवत्सं ब्रह्मणा हृतं स्ववत्समनुपश्चाज्जातं वत्सं श्रीकृष्णं अमीमेत् प्रमीतवती। कीदृशम्, मिषं व्याजं कुर्वाणं कपटवत्समित्यर्थः। कथममीमेत् अत आह। मातेति। यतः मातर्वै मातुं वत्सं परीक्षितुं च निश्चितं मूर्द्धानं हिंकृणोत् हिंकारेणाघ्रातवती मनसाज्ञातत्वेऽपि आघ्राणेनापि तं ज्ञातवती। कथमेतदत आह। सृक्वेति। सृक्वाणं घर्म्मं सरतीति सृक्वाणं अभिसरं घर्म्मवन्तं शीघ्रागमन-श्रमेण स्वेदवन्तं अभिवावशाना सर्वतः शब्दं कुर्वाणा वत्सस्य च मायुं शब्दं परिचिनोति। ततश्च पयोभिरूधस्थैः पयते प्रस्त्रौति प्रस्यन्दते। भगवद्रूपे वत्सत्वं त्वन्तरात्मत्वेन सन्निहित तरत्वान्न दूरागमनेन खिद्यते, नाप्यभितो गोभिः शब्दमन्विष्यते, नापि शब्दविशेषद्वारायं मदीयो वत्स इति निश्चीयते, नापि तज्ज्ञानानन्तरं गोपयः प्रवर्त्तत इति। अनात्मा हि संशय गोचरो दृश्यते न त्वात्मेति

अहं न वेति वा नाहं वेति वा। तयोरात्मन्यदर्शनात्। अतः प्रत्यक् पराग् वत्सयोर्भेदं जानानो गो-गोपीगणो धातुरप्येतन्महिमज्ञानाभावात् वरीयानिति भावः॥११॥

अनुवाद- "गौः" धेनु समूह "अनु" ब्रह्मा के द्वारा निज वत्स अपहृत होने से पश्चात्जात "मिषं वत्सः" कपट वत्स को अर्थात् माया वत्स को श्रीकृष्ण स्वरूप "अमीमेत्" अवधारण करने लगीं। कैसे अवधारण हुआ? उसे कहते हैं। "मात वै उ" वत्स की परीक्षा के निमित्त ही "मूर्द्धानं" "हिं कृणोत्" मस्तक में हिं शब्द उच्चारण कर उसका आघ्राण ग्रहण किये। मन से ज्ञात होकर भी आघ्राण द्वारा तं उसे अर्थात् निज सन्तान को जान लिये। उसके बाद "सृक्वाणं" उस वत्स के वदन प्रान्त को "घर्मं" शीघ्र आने के कारण श्रम से घर्म्माभिषिक्त देखकर "अभिवावशाना" सब प्रकार से शब्द करने लगीं। कारण वह धेनु निज वत्स के "मायुं" शब्द को "मिमाति" पहचानती थीं। अनन्तर "पयोभिः" उधस्थ दुग्ध धारा के द्वारा "पयते" वत्स को आप्यायित करने लगीं। भगवत् स्वरूप वत्स अन्तरात्मा रूप में सन्निहित होने से दूरागमन के निमित्त क्लिष्ट नहीं हुई। धेनुगण भी निज निज वत्स को अन्वेषण के निमित्त कहीं नहीं गईं। एवं शब्द विशेष के द्वारा "यह मेरा वत्स है" इस प्रकार निश्चय भी नहीं करना पड़ा। गोपीगण भी निज निज पुत्र के सम्बन्ध में भगवत् ज्ञान को छोड़कर अन्य विध ज्ञान नहीं किए थे। कारण अनात्म विषय ही संशय रूप में परिदृष्ट होता है, परमात्म विषय में कभी भी संशय नहीं हो सकता है। जिस प्रकार मैं हूँ या नहीं, मेरा है या नहीं" इस उभय स्थल में आत्म दर्शन का अभाव सूचित होता है। अतएव "प्रत्यक् एवं पराक्" अर्थात् जीवात्मा व परमात्मा स्वरूप में वत्सद्वय की भेद ज्ञानवती गो गोपीगण इस विषय में महिमा ज्ञानहीन विधाता से भी वरीयान् अर्थात् श्रेष्ठतम हैं॥११॥

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद् विशरूप्यं त्रिषुयोजनेषु॥१२॥

ऋ. २।३।१५/ १।१६४।९

युक्तेति दक्षिणाया धुरि कर्मफलानामुपरिभागे स्थितेन विधिनेति शेषः। माता मिनोत्यनयेति माता दिव्यदृष्टियुक्ता वत्सानां परीक्षणे नियुक्तासीत्। माया

वत्सेषु वत्सपेषु किमिदानीं व्रजे वृत्तमस्तीत्यालोचितवान् इत्यर्थः। ततश्च किं दृष्टमत आह। अतिष्ठदिति। वृजनीषु मातृषु गर्भः वत्सः अन्तरिवान्तः गर्भं इव निकटे एव अतिष्ठदित्यपश्यत्। ततोऽनु पश्चात् वत्सो विष्णोः पुत्रो ब्रह्मा गां यत्र स्वयं वत्साः स्थापितास्तां भुवं अमीमेत् परीक्षितवान्। ततस्त्रिषु योजनेषु व्यवहिते देशे विश्वरूप्यं अपश्यत् विश्वरूपस्य भावो विश्वरूपं यदेव योजनत्रयान्तरस्थेषु वत्सेषु रूपं तदेव कात्स्न्र्येन व्रजस्थेष्वपश्यत्। ततश्चास्य इमे सत्या उत ते इति सन्देह एवासीत्। गोगोपीवत् विशेषावधारणे सामर्थ्यं नासीदिति भावः॥१२॥

अनुवाद- "दक्षिणा या धुरि" कर्मफल समूह के उपरिचर विधि द्वारा "माता" दिव्य दृष्टि सम्पन्न जनगण, उस माया वत्स की परीक्षा में "युक्ता आसीत्" नियुक्त हुए। अर्थात् वत्स वत्सपालकगण सम्प्रति व्रज में किस प्रकार हैं उसकी आलोचना करने लगे। उन्होंने देखा- "वृजनीषु" व्रजस्थिता जननीगण के समीप में "गर्भः" वत्सगण-"अन्त" गर्भ के समान अति निकट में "अतिष्ठत्" अवस्थान करते हैं। "अनु" अनन्तर "वत्सः" भगवान् विष्णु के पुत्र ब्रह्मा स्वयं जहाँ पर "गां" अपहृत वत्सगण को रक्खे थे। उस वत्सगण के साथ व्रज स्थित माया वत्सगण की तुलना कर "अमीमेत्" परीक्षा करने लगे। पश्चात् "त्रिषु योजनेषु" तीन योजन व्यवहित प्रदेश में "विश्वरूप्यं अपश्यत्" विश्वरूप के भाव को देखा। अर्थात् उन्होंने जो जो वत्स बालक को छिपाकर रखे थे ठीक उस प्रकार ही वत्स वत्सपाल समूह को व्रजधाम में देखा। अनन्तर यह सत्य है, या वह सत्य है, यह संशय ब्रह्मा के हृदय में उपस्थित हुआ। एवं गो गोपीगण के समान विशेष अवधारण में समर्थ नहीं हुए॥१२॥

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्य्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्व्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति॥१३॥

ऋ. २।३।१७/ १।१६४।१९

अन्येषां विपर्य्यय एवासीदित्याह। ये इति। ये अर्व्वाञ्चोः वत्सादयः कृष्णसृष्ट्वाः तान् उ निश्चितं पराचः पूर्वान् ब्रह्मसृष्टानाहुः। एवं ये पराञ्च स्ते उ अर्व्वांश्च आहुरिति स्पष्टार्थकानेवं विपर्य्ययेणाहुरत आह। इन्द्र इति। यायान्

इन्द्रः कृष्णः चात् विधाता तौ उभौ चक्रथुः निर्मितवन्तौ। पुरुषः, व्यत्ययः आर्षः। तानि तेषु ये अर्वाञ्च इत्युक्तम्। हे सोम! सोमाभिमानिन् विष्णो, धुराणयुक्ता रथादिधुरि नियुक्ता गवादय इव रजसः विपरीतबुद्धिरूपं रजो वहति नृ-पशवः॥१३॥

अनुवाद- केवल ब्रह्मा का ही नहीं, किन्तु अन्य अनेक का ही इस प्रकार विपर्य्यय भाव उपस्थित हुआ था। इस ऋक् में यह वृत्तान्त विवृत है। "ये अर्वाञ्च" जो सब वत्सादि श्रीकृष्ण सृष्ट—"तान् उ" वे सब ही "पराच आहुः" पूर्व में ब्रह्मा ने सृष्टि की है। एवं जो सब "पराञ्चः" ब्रह्मा द्वारा सृष्ट नहीं है, "तान् उ" वे सब "अर्वाचः आहुः" श्रीकृष्ण सृष्ट हैं, अर्थात् पर सृष्ट को पूर्वसृष्ट एवं पूर्व सृष्ट को परसृष्ट रूप विपर्य्यय भाव से स्पष्टतः निर्देश करने लगे। "इन्द्रश्च" श्रीकृष्ण व ब्रह्मा, उभय ही "या चक्रथुः" जिनकी सृष्टि की है "वह" उसके मध्य में जो सब श्रीकृष्ण सृष्ट है उसके सम्बन्ध में ही "हे सोम!" हे सोमाभिमानी विष्णो! "धुराणयुक्ताः" रथादि में धुरि नियुक्त गवादि की भाँति नरपशुगण ही "रजसः" वहन्ति' विपरीत बुद्धि रूप अज्ञान पांशु वहन करते हैं॥१३

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे।
यस्येदाहुः पिप्पलं स्वादग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥१४॥

ऋ.२।३।१८/ १।१६४।२२

सन्तु ब्रह्मेतरेषु वत्सेषु कृष्णात्मसु प्रमासंशय विपर्य्ययाः। ये तु वत्सादयो वर्षमात्रं निरुद्धास्तेषां का गतिः, इत्यत आह। यस्मिन् वृक्ष इति मध्वादा अन्नमश्नन्तः सुपर्णाः शोभनाः पतनाः कुर्द्दनपराः बालाः यस्मिन् वृक्षे निविशन्ति विश्वे सर्वे अधिसुवते च कृष्णमाज्ञापयन्ते च त्वमेव वत्सान्वेषण कुरु वयमत्रास्महे इति। तस्यैव वृक्षस्य समीपे यत् पिप्पलं स्वहस्तस्थमुपदंशफलं अग्रे सम्वंसरात्पूर्वं स्वादु इतः स्वाद्वित्याहुः ततः पिप्पलं अतीतेऽपि वत्सरे न उन्नशत् उत्कर्षणं न नष्टम्। तत्र हेतुमाह। य इति। यः पितरं न वेद यः यत् यस्मात् पितरं सम्वत्सरमेवोक्तजनो न जानाति। पितृशब्दश्च सम्वत्सरवाची, पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिमित्यत्र दृष्टः। सम्वत्सरमात्रः कालो गोपानां

क्षणवद्गत इत्युपवृंहणे स्पष्टम्॥१४॥

अनुवाद- कृष्णात्मक वत्सगण के सम्बन्ध में निश्चय बोध का संशय विपर्य्यय हो, सम्प्रति जो सब वत्सादि एकवत्सर यावत् निरुद्ध होकर हैं उन सबकी गति क्या हुई? उसे कहते हैं। "मध्वाद:" मधु अथवा अन्न भोजनकारी "सुपर्णा:" शोभनाङ्ग व क्रीड़ा पर व्रजबालकगण "यस्मिन् वृक्षे" जिस वृक्ष में "निविशन्ते" आरोहण किए थे "विश्वे" वे सब ही "अधिसुवते" श्रीकृष्ण को ज्ञापन करने लगे कि- "भईया, तुम वत्सान्वेषण हेतु जाओ, 'हम सब यहाँ पर रहते हैं।' "यस्य" उस वृक्ष के समीप में जो "पिप्पलं" मुख रोचक दंशित फल "अग्रे" सम्वत्सर के पहले जिस प्रकार "स्वादु" सुस्वाद था "इत" उसकी अपेक्षा से भी अभी कैसा सुस्वादु हुआ है, इस प्रकार "आहु:" कहने लगे, "तत्" वह पिप्पल वत्सर अतीत होने पर भी "न उन्नशत्" नष्ट नहीं हुआ है। वरं स्वाद में उत्कर्ष ही हुआ है। कारण, "य: पितरं न वेद" वे सब पितृ शब्द वाची सम्वत्सर को जान नहीं पाये। सम्वत्सर परमित काल गोप बालकों के लिए सामान्य क्षण के समान अतीत हो गया॥१४॥

आ ग्रावभिरहन्येभिरक्तुभिर्व्वरिष्ठं वज्रमा जिघर्त्ति मायिनि।
शतं वा यस्य प्रचरन् स्वेदने संवर्त्तयन्तो वि च वर्त्तयन्नहा॥१५॥

ऋ. ४।३।२/ ५।४८।३

अथ गोवर्द्धनोद्धरणमाह। आ ग्रावभिरिति। यस्य इन्द्रस्य स्वेदने स्वकीये गृहे शतं शतसंख्या वा शताधिका वा सम्वर्त्तं प्रलयं कुर्वन्त: साम्वर्त्तका नाम मेघगणा: प्रचरन् शब्दानुच्चरन्ति स इन्द्र:। ग्रावभिरिति ग्राव समुदाय रूप पर्वतो लक्ष्यते। तेन अहन्येभि: अहं क्रतुं अर्हद्भिर्हेतुभि:। ऐन्द्रमहमुत्साद्य पर्वतमहे प्रवर्त्तिते सतीत्यर्थ:। वरिष्ठं उरुतमं वज्रप्रायं वर्षं मायिनि मायामृगीनर्त्तके कृष्णे अक्तुभि: पुराणत: सप्तमी रात्रिभि: परिमितेन कालेन आजिघर्ति सर्वत: क्षरति सप्तरात्र पर्य्यन्तं गोकुलोपरि कल्पान्तवर्षसमं वर्षं चकारेत्यर्थ:। मायी तु अहा अहानि प्रक्रतुन् विवर्त्तयन् विपरीतं वर्त्तयन् कुर्वन्नेव आस्ते इति शेष:। तस्माद्वर्षात्र भयं चकारेति भाव:॥१५॥

अनुवाद- अनन्तर श्रीकृष्ण की गोवर्द्धन धारण लीला का वर्णन करते हैं। "यस्य स्वेदने" जिनके निज गृह में "शतं" शत संख्यक वा संख्यातीत

"समवर्त्तयन्तः" प्रलयकारी सम्वर्त्तक नामक मेघगण-"प्रचरन्" गम्भीर शब्द करके विचरण करते हैं, वह ही देवराज इन्द्र हैं। "ग्रावभिः" प्रस्तर स्तूपरूप-यहाँ पर गोवर्द्धन गिरिवर ही लक्ष्य है। उस पर्वत के द्वारा "अहन्येभिः" मैं ही सर्व यज्ञेश्वर हूँ। इसका कारण प्रदर्शन के निमित्त श्रीकृष्ण, इन्द्र यज्ञ विनाश पूर्वक गिरि यज्ञ का प्रचलन करने से इन्द्र "वरिष्ठं वज्रं" अति भयङ्कर गुरुतर वज्रप्रायवारिधारा "मायिनि" मायामृगी नर्त्तक श्रीकृष्ण के ऊपर "अत्त्युभिः" सप्तरात्रि परिमितकाल आजिघर्ति सब प्रकार से वर्षा करने लगे। अर्थात् श्रीकृष्ण-चिर प्रचलित इन्द्र यज्ञ बन्द करवाने से देवराज इन्द्र ने सात रात गोकुल में कल्पान्तकारि वर्षण मेघों से करवाया था। किन्तु मायी श्रीकृष्ण "अहा" प्रसिद्ध इन्द्र यज्ञ का "विवर्त्तयन्" विपरीत भाव से परिवर्त्तन कर दिये थे। फलतः उस प्रकार भयङ्कर वर्षण से भी श्रीकृष्ण किसी प्रकार भीत नहीं हुए॥१५॥

तामस्य रीतिं परशोरिव प्रत्यनीकमख्यम्भुजे अस्य वर्पसः।
सचा यदिपितुमन्तमिव क्षयं रत्नं दधाति भ हूतये विशे॥१६॥

ऋ.२।२।२६/ ५।४८।४

तामस्येति तां महता वर्षेण व्रजो नाशनीय इत्येवं रूपां अस्य इन्द्रस्य रीतिं क्रियां प्रकारं परशोरिव केवलं जीवनच्छेदकरीमालोच्य अस्य इन्द्रस्य प्रत्यनीकं तदीय भागहन्तृत्वेन शत्रुं पर्वतं अस्य सप्तवार्षिकस्य वर्पसः स्वरूपस्य भूजे। धृतमिति शेषः। अख्यं अपश्यं न त्वयं पर्वतं धर्त्तुं तदा वामवद्देहेन वृद्धिं प्रापेत्यर्थः। स चा सख्या गोपवृन्देन निमित्तेन यदि यदापि तुमन्तं अन्नवन्तं क्षयं निवासमिव गोवर्द्धनमकरोत् तदाविशे प्रजायै प्रजानां भागार्थं तत्र रत्नं जातौ यदुत्कृष्टं वस्तु तत्सर्वं दधाति निदधाति। कीदृश्यै विशे, भरहूतये भरस्य शैल-भारस्य हूतिराह्वानं अङ्गीकरणं यस्याः सा भर-हूतिस्तस्यै॥१६॥

अनुवाद- "तां अस्य रीतिं" महावर्षण द्वारा व्रज विनाश योग्य इन्द्र की कार्यप्रणाली को "परशोरिव" परशु के न्याय जीवन छेद कारिणी देखकर "अस्य" इस इन्द्र का "प्रत्यनीकं" यज्ञ भागहरण कारी शत्रु स्वरूप गोवर्द्धन पर्वत "अस्य वर्पसः भुजे" यह सप्तवर्ष वयस्क बालक के हाथ में उद्धृत है "अख्यं" यह देखा कि पर्वत धारण करते समय बालक कृष्ण वामनदेव के समान वृद्धि प्राप्त नहीं

हुए थे। "सचा" सखा गोपगण के निमित्त "यदिपि" जिस समय में श्री गोवर्द्धन को "तुमन्तं" अन्नविशिष्ट "क्षयं इव" निवास स्थान स्वरूप किए थे, उस समय "भर भूतये" जो लोक शैल भार वहन कारी श्रीकृष्ण के आह्वान को अङ्गीकार किए थे, वे सब "विशे" प्रजा साधारण के भाग विभाग के निमित्त वहाँ पर "रत्नंदधाति" यावतीय उत्कृष्ट जातीय वस्तु का स्थापन किए थे॥१६॥

तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः।
दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजञ्च विष्णुः सखिवां अपोर्णुते॥१७॥

ऋ. २।२।२६/ १।१५६।४

तमस्येति। तं अस्य कृष्णस्य क्रतुं गिरियज्ञं वरुणो राजा तथा अश्विनौ देवौ तं क्रतुं सचन्त अनुकृतवन्तः। मारुतस्य जगतां प्राणस्य वेधसः विश्वस्रष्टुः इन्द्रादन्येषां देवानां स क्रतुः सुखकरोभूदित्यर्थः। यत्र निमित्तं दृढ़ं अहर्विदं क्रतोर्लब्धारं पर्वतं उत्तमं दाधार विष्णुः। हस्तेनेति शेषः। व्रजं तेनैव अहविदा शैलेन अपोर्णुते आच्छादयति यतः सथिवान् मित्राणां त्राणार्थमित्यर्थः॥१७॥

अनुवाद- "अस्य" कृष्ण के "तं क्रतुं" उस गिरि यज्ञ को "वरुणो राजा" जलाधिपति वरुणदेव एवं "अश्विना" अश्विदेवद्वय-"सचन्त" अनुकृत किए थे। "मारुतस्य" जगत् प्राण पवन का एवं "वेधसः" विश्व स्रष्टा ब्रह्मा का फलतः देवराज इन्द्र को छोड़कर अन्य सब देवता के लिए वह गिरियज्ञ सुखकर हुआ था। कारण "विष्णुः" भगवान् श्रीकृष्ण "सखिवान्" सखागण समन्वित होकर अथवा सखागण को उस विपद् से परित्राण के निमित्त "दक्षं अहर्विदं" सुदृढ़ यज्ञ प्रापक गिरि गोवर्द्धन का "उत्तमं दाधार" उत्तम रूप से वामहस्त से धारण किए थे एवं उस गिरिराज के द्वारा "व्रजञ्च" समग्र व्रजधाम "अपोर्णुते" आच्छादित किए थे॥१७॥

तावां वास्तून्यश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥१८॥

ऋ. २।२।२४/ १।१५४।६

एवं गवां त्राणे कृते भग्नदर्पः इन्द्रः उपकृताः सुरभ्यादयो गावश्च

प्रीताः सम्भूय व्रजं प्रति आगन्तुं प्रार्थयन्ते। तावामिति, ता तानि वां युवयोः रामकृष्णयोर्वास्तूनि क्रीड़ास्थानानि गमध्यै गन्तुः उश्मसि कामयामहे यत्र येषु वास्तुषु गावो भूरिशृङ्गाः महाशृङ्गाः अयासः अयन्ति संचरन्ति। अत्र अस्मिंल्लोके अह प्रसिद्धं तत् उरुगायस्य महाकीर्त्तेः वृष्णः परमानन्दवर्षिणः परमं महत्पदं स्थानं भूरि अत्यन्तं अवभाति अवभासते॥१८॥

अनुवाद- इस प्रकार गोवर्द्धन धारण पूर्वक श्रीकृष्ण ने निखिल धेनु यूथ की रक्षा करने से हतदर्प देवराज इन्द्र एवं सुरभि प्रभृति स्वर्ग के धेनुवृन्द आनन्द से व्रजधाम में आने के निमित्त प्रार्थना करने लगे। "ता वां" उस रामकृष्ण के "वास्तूनि" क्रीड़ास्थान समूह में "गमध्यै" गमनः करने के निमित्त "उश्मसि" हम सब अभिलाषी हैं। "यत्र" उस क्रीड़ा स्थान में "गावः" गो समूह "भूरिशृङ्गाः" महा शृङ्ग विशिष्ट "अयास" विचरण कर रहे हैं। "अत्र" इस लोक में इस धराधाम में "तत्" वह "अह" प्रसिद्ध "उरुगायस्य वृष्णः" महाकीर्त्तिशाली परमानन्द वर्षणकारी श्रीकृष्ण के "परमं पदं" महत् स्थान "भूरिअवभाति" स्वीय महिमा से अत्यन्त उद्‌भासित हैं।१८

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥१९॥

ऋ. ८।८।२४/ १०।१६६।१

एवं मनोरथं कृत्त्वा तेषु भूमावागतेषु इन्द्रं ज्येष्ठत्वेन बहुमानयन् श्रीभगवानुवाच। ऋषभमिति। हे इन्द्र! मां समानानां सजातीनां क्षत्रियाणामृषभं श्रेष्ठं कुरु सपत्नानां शत्रूणां विषासहिं युद्धे सहनसमर्थं हन्तारं शत्रूणां कृधि। तथा विराजं विशेषेण राजमानं कृधि। तथा गोपतिं मां गवां च विराजं कृधि॥१९॥

अनुवाद- उस अभिलाष से सुरभी प्रभृति के साथ इन्द्र को भू व्रज में आगमन करते देखकर भगवान् श्रीकृष्ण, देवराज के प्रति ज्येष्ठ ज्ञान से बहु सम्मान प्रदर्शन पूर्वक कहने लगे "हे इन्द्र! "मा" मुझे "समानानां" सजातीय क्षत्रियगण के मध्य में "ऋषभं" श्रेष्ठ रूप में प्रतिष्ठित करें। "सपत्नानां" शत्रु गण के "विषासहिं" युद्ध में सहन समर्थ अर्थात् सहिष्णु बना दें। "शत्रूणां हन्तारं" शत्रुगण के निहन्ता बना

दें। "विराज" मुझे विशेष रूप से शोभाशाली कर दें, एवं "गवां" गो समूह के मध्य में मुझे "गोपतिं" गोविन्द रूप में अधिष्ठित करें॥१९॥

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्तत्सीदन्तुगोष्ठे रणयंत्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्व्वीरुषसो दुहानाः॥२०॥

ऋ. ४।६।२५/ ६।२८।१

ततो गोभिरिन्द्रेण च गवां राज्येभिषिक्तो विष्णुस्ताः स्तौति द्वाभ्याम्। आ गाव इति। गावः आग्मन् आगताः, उत अपि च भद्रं मम पट्टाभिषेकं च अक्रन् कृतवत्यः। उभयत्र मन्त्रे "घसेति लेर्लुक्। गमहनजनेति गमेरुपधाया लोपः। संयोगान्तस्य लोपश्चोभयत्र"। अतःपरं भवत्यः गोष्ठे सीदन्तु उपविशन्तु, अस्मे अस्मान् रणयन्तु रमयन्तु प्रजावतीः प्रजावत्यः पुरुरूपाः श्वेतरक्तपाटलाद्यनेकरूपवत्यः इह स्युः भवन्तु पूर्वी देवलोकश्च। इन्द्राय सान्नाष्यभोक्त्रे नित्याग्निहोत्रेवाग्नेः पूर्वाहूतिः प्रजापतेरुन्नैरेन्द्रहूतमिति श्रुतेः। प्रत्यहं उयसः उषः कालान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। दुहानाः दोहं ददत्यः। स्युरित्यप- कृष्यते॥२०॥

अनुवाद- अनन्तर सुरभिगण एवं इन्द्र के द्वारा अभिषिक्त होकर श्रीकृष्ण उन सबकी स्तुति करने लगे। "गावः" हे सुरभिगण! आप सब "आग्मन्" आगमन किए हैं, "उत" अपिच मेरा "भद्रं" अभिषेक उत्सव "अक्रन्" सम्पन्न किये हैं। अतः पर आप सब "गोष्ठे" गोष्ठालय में "सीदन्तु" प्रवेश करें एवं "अस्मे" हम सबको सुखी करें आप "प्रजावती" बहुसन्तानवती एवं "पुरुरूपाः" श्वेत रक्त पाटलादि बहुरूपवती हैं। आप सब "इह स्युः" इस स्थान में अवस्थान करें। जिस प्रकार "पूर्वीः" देवलोक में "इन्द्राय साम्नाष्य" अर्थात् मन्त्रपूत हविः भोक्ता इन्द्र के निमित्त अथवा नित्याग्नि क्षेत्र में अग्नि में पूर्वाहुति के निमित्त प्रत्यह "उषसः" उषाकाल में "दुहानाः" आप सब "दोह" दुग्ध दान करती हैं, उस प्रकार यहाँ पर रहकर भी दुग्धदान करें॥२०॥

इन्द्र यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद्ददातिन स्वं मुषायति।
भूयो भूयोरयिमिदस्य वर्द्धयन्नभिन्ने खिल्ये निदधातिदेवयुम्॥२१॥

ऋ. ४।६।५२

इन्द्रमिति। इन्द्रो देवता यज्वने यजनशीलाय पृणते ददते च यजमानाय शिक्षति कल्याणं पन्थानं दर्शयति। उपेत् समीप एव अविलम्बेनैव ददाति स्वं क्रतुफलं न तु मूषायति अव्यभिचारेण क्रतुफलप्रद इत्यर्थः। भूयोभूयोधिकं अस्य यजमानस्य रयिं धनं इत् एव वर्द्धयन् तमेव देवैर्यौति संयुज्यत इति देवयु स्तं देवानां भक्तं अभिन्ने शत्रुकृतभेदरहिते खिल्ये समुदाये निदधाति। तस्मै सा जनायाधिपत्यं ददातीत्यर्थः॥२१॥

अनुवाद- अनन्तर इन्द्र की स्तुति करते हैं। "इन्द्रः" देवराज इन्द्र "यज्वने पृणते" यजनशील को फलदान करते हैं, 'चशिक्षति' एवं कल्याण पथ का प्रदर्शन करते हैं। "उपेत् ददाति" उस यजमान के समीप में सत्त्वर यज्ञीय फल प्रदान करते हैं। कदा च उस "स्वं" यज्ञफल "न मूषायति" अपहरण नहीं करते हैं। फलतः आप अव्याभिचार से यज्ञ फलप्रद हैं। "भूयोभूयः" अत्यधिक रूप में "अस्य" इस यजमान के "रायं इत् वर्द्धयन्" धनराशि वर्द्धन कर "देवयुं" उस देवभक्त यजमान को "अभिन्ने खिल्ये" शत्रुकृत भेदरहित निखिल अवस्था में "निदधाति" निहित करते हैं। अर्थात् वह इन्द्र निखिल जनों के ऊपर आधिपत्य प्रदान करते हैं॥२१॥

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सहः॥२२॥

ऋ. ४।६।२५/ ६।२८।२, ३

ततो निर्भयाः गावः आसन्नित्याह। न ता नशन्तीति। ताः गावो न नशन्ति तस्करश्च ताः गाः न दभाति नाभिभवति, आमित्रः अमित्र प्रभवो व्यथिः पीड़ा आसाम एताः गान आदधर्षति न भीषयति याभिः यत् प्रस्रव पय आदिभिः देवान् युजते तथा ददाति च दक्षिणात्वेन ताभिः गोभिः ज्योक् निरन्तरं गोपतिः सर्वोपि गोमान् सन् इत् सङ्गतो भवत्येव॥२२॥

अनुवाद- इसके बाद गो समूह अतिशय निर्भय हो गये थे। इस मन्त्र में वह परिव्यक्त हो रहा है। "ताः न नशन्ति" उक्त गो समूह विनष्ट नहीं होते हैं, एवं "तस्करः न दभाति" चोर भी अपहरण नहीं करता है, "अमित्रः व्यथिः" अमित्र प्रभव अर्थात् शत्रुजन प्रभव पीड़ा "आसां न आदधर्षति" उन सबको

व्यथित व पीड़ित नहीं करती है। परन्तु "याभि:" जिनके दुग्धादि के द्वारा "देवान् भजते" देवयजन होता है, एवं "ददाति च" दक्षिणा रूप में दान भी किये जाते हैं "ताभि:" उस गो गण के द्वारा "ज्योक्" निरन्तर "गोपति:" श्री गोविन्द की "सह: भवते" महिमा सेवित होती रहती है। अथवा गोस्वामिक यजमान समूह प्रभूत गो सम्पन्न होकर उन श्रीगोविन्द के साथ सम्मिलित होकर रहते हैं॥२२॥

न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुपयन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनुगावो मर्त्तस्य विचरन्ति यज्वन:॥२३॥

ऋ. ४।६।२५/ ६।२८।४

न ता अर्वेति। ता: गा: अर्वा हयरूपी केशी नाम असुर: रेणुककाट: रेणूना ककाटयति अतिशयेन आवृणोति नभोगर्भ इति रेणुककाट:। न अश्नुते व्याप्नोति वशीकर्त्तुं न शक्नोतीत्यर्थ:। तस्य गोयूथे प्रविष्यमात्रस्य कृष्णेन नाशितत्वात्। तथा ता: गाव: संस्कृतत्रं संस्कृतेनैव हविरादिना तृप्त: सन् त्रायत इति संस्कृतम् अष्टाचत्वारिंशत् संस्कारवन्तं त्रायत वा इति संस्कृतत्रोग्नि: तं प्रति ता अभ्युपयन्ति न च वाड़वाग्नौ: पतन्तीत्यर्थ:। कृष्णेनैव वाड़वास्यापि पीतत्वात्। एतच्चारोगादेरप्युपलक्षणम्। निर्भयत्वे हेतुमाह– उर्विति। उरुगायं महाकीर्तिम् अभयं भयहीनमनुलक्ष्य तस्य मर्त्तस्य यज्वनो नन्दादेर्गावो विचरन्ति॥२३॥

अनुवाद- इस मन्त्र में श्रीकृष्ण द्वारा हयरूपी केशीदैत्य वध एवं दावानल भक्षण लीला वर्णित है। "ता:" उस गो समूह को "अर्वा" अश्वरूपी केशी नामक असुर "रेणूककाट:" धूलिपटल द्वारा नभोगर्भ पर्य्यन्त अतिशय रूप से आवृत कर दिये थे। "न अश्नुते" उसे कोई भी वशीभूत करने में समर्थ नहीं थे। किन्तु वह असुर गो समूह में प्रविष्ट होने से श्रीकृष्ण ने उसे मार डाला। "न ता:" एवं उस धेनु समूह "संस्कृतत्रं" सुसंस्कृत हवि: प्रभृति के द्वारा तृप्त हुई थीं, जो अष्ट चत्वारिंशत् प्रकार संस्कारवान् व्यक्ति को उद्धार करते हैं, उस अग्नि के मध्य में "अभ्युपयन्ति" गिर गये। श्रीकृष्ण ने उस समय दावानल को पान कर लिया, और उन सबकी रक्षा की, उससे धेनु समूह नीरोग

हो गई थीं। सम्प्रति निर्भय होने के कारण को कहते हैं, "उरुगायं" इस प्रकार महाकीर्त्तिशाली श्रीकृष्ण को "अभयं" निर्भय देखकर "तस्यमर्त्तस्य यज्वनः" उस भूव्रज के भजनशील श्रीनन्दादि की "ताः गावः" धेनु समूह "विचरन्ति" निर्भय से विचरण करने लगीं ॥२३ ॥

हस्ते दधानो नृम्ना विश्वान्यमे देवान्धाद्गुहानिषीदन्।
विदन्तीमत्र नरोधियंधा हृदायत्तष्टान् मन्त्रानशंसन्॥२४॥

ऋ. १।५।११/ १।६७।३

पूर्वमन्त्रोपन्यस्तस्यार्वणो वधोन्यत्रापि श्रूयते। हस्त इति। हस्ते भुजे विश्वानि सर्वाणि नृम्ना बलानि दधानो हस्तेनैव गुहा अश्वस्य मुखगुहायां निषीदन् प्रविश्य स्थिरीभवन् ततो मुखस्थे हस्ते विवृद्धिंगते कर्कटीफलवत् विदीर्णे च केशिनि देवान् अमे सुखे धात् अदधत्। एतच्च भागवते द्रष्टव्यं। "विदन्तीति"। यम् एनं सुखयितारं अत्र भक्तौ विदन्ति लभन्ते नरो मनुष्याः ये धियन्धा बुद्धिं ध ारयन्तः निगृह्णन्तो योगिनः यदनुग्रहात् हृदा मनसैव तष्टान् परिच्छिन्नान् मन्त्रान् अशंसन् हिरण्यगर्भाद्याः शिष्येभ्यः अकथयन्। यथोक्तं 'तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये' (भा १।१।१)। इति॥२४॥

अनुवाद- पूर्वोक्त मन्त्र में अर्वा अर्थात् केशीदैत्य वध के विषय में सूचित है, इस मन्त्र में उसका विवरण सुस्पष्ट भाव से प्रकाशित हुआ है। श्री भगवान् श्रीकृष्ण "हस्ते विश्वानि नृम्ना दधानः" निज हस्त में असुर नाशिनी समस्त शक्ति को धारण किये थे। अनन्तर उस हस्त "गुहा" अश्वरूपी असुर के मुख विवर में "निषीदन्" प्रविष्ट कराकर स्थिर भाव से अवस्थान किए थे। पश्चात् मुख विवर में हस्त की वृद्धि विशेष रूप से होने से वह मुख विवर कर्कटी फल के समान विदीर्ण हो गया। इस प्रकार केशी दैत्य को विनष्ट कर श्रीकृष्ण "देवान्" देवगण को "अमेधात्" सुख सागर में निमज्जित किए थे। यह विषय श्रीमद्भागवत के १०।३७ में विशद् रूप से वर्णित है। "यं" जिनको अर्थात् इस सुख प्रदाता को "अत्र" इस भक्ति मार्ग में जो लोक 'विदन्ति' जानते हैं, वह "नरः" मनुष्यगण ही "धियं धाः" सद्बुद्धि धारण करते हैं, अर्थात् विशेष बुद्धिमान् हैं। योगीगण जिनके अनुग्रह से "हृदा" मन से

'तष्टान्' परिच्छिन्न मन्त्र समूह का "अशंसन्" प्रकाश करते हैं। वह भगवान् श्रीकृष्ण ही हिरण्यगर्भादि शिष्यगण को उक्त मन्त्र समूह कहे थे। श्रीमद्भागवत के १।१ में वर्णित है, "तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये" इत्यादि ॥२४॥

स जिह्वया चतुरनीक ऋञ्जते चारुवसानो वरुणो यतन्नरिम्।
न तस्य विद्म पुरुषत्वतावयं यतो भगः सवितादातिवार्यम्॥२५॥

ऋ. ४।३।२/ ५।४८।५

पूर्वमन्त्रे सूचितः अग्निभयाभावहेतुः। तं प्रकटन् कृष्ण कृतमग्निपानं प्रदेशान्तरस्थेन मन्त्रेणाह स जिह्वयेति। स मायी यस्योपरि इन्द्रेण साम्वर्त्तको मेघगणः प्रेरितः स दावाग्निरूपिऽणोसुरस्य विनाशे चतुरनीकोपि चत्वारि पृथिव्यप्तेजोवाय्वात्मकानि अनीकानि सैन्यानीव प्रतिपक्ष क्षयकारणानि सन्त्यस्य चतुरनीकः। तथाहि। बहुभिः पांशुभिरद्भिर्वा तीव्रवायुना वा दिव्यार्च्चि मदग्निः शाम्यतीति प्रसिद्धम्। आसुरोग्नि र्दैवेनाग्निना शमयितुं युक्तः, माहेश्वरोज्वर इव वैष्णवेन ज्वरेण। अथापि भक्तेष्वत्यन्त वात्सल्यात् स्वस्य जिह्वयैव अरिम् आसुरमग्निम् ऋञ्जते हिनस्ति। कीदृशः। चारुवसानः रम्यं मनुष्यशरीरं दधान इत्यर्थः। भक्तान् गोपादीन् स्वीयत्वेन वृणनः यतन् यतमानः तस्य एवम्विधस्य पुरुषत्वता पौरुषाणि। द्वितीयो भावप्रत्ययः छान्दसः। वयं न विद्म न जानीमः। यतो मानुषेष्वदृष्टमपि दावाग्निपानं करोति। यतो यदनुग्रहात् भगो भगवान् सविता सूर्य्यो वार्य्यं वारि। स्वार्थे ष्यञ्। दाति ददाति। यद्वा कृष्णं त इमेत्यस्यानन्तरं मन्त्र उदाहार्य्यः॥२५॥

अनुवाद- पूर्व मन्त्रोक्त श्रीकृष्ण की दावानल भक्षण लीला का हेतु निर्देश करते हैं। "सः" वह मायी, जिसके प्रति इन्द्र ने सम्वर्त्तक मेघों को भेजा था, वह माया मनुष्यधारी श्रीकृष्ण दावाग्निरूपी असुर विनाश हेतु "चतुरनीकः" क्षिति, जल, तेज, वायु चतुर्भूतात्मक अनीक अर्थात् प्रतिपक्ष क्षयकारी सैन्य विशिष्ट के न्याय हो गये थे। उक्त भूत चतुष्टय द्वारा आसुराग्नि प्रशमित होता है, इसमें श्रौत प्रमाण दृष्ट होता है, "बहुभिः पांशुभिरद्भिर्वा" इत्यादि। आसुराग्नि दैवाग्नि के द्वारा प्रशमित होना ही सङ्गत है। कारण, माहेश्वर ज्वर, वैष्णव ज्वर से प्रशमित होता है, अनन्तर आप भक्तजनों के प्रति अतिशय वात्सल्य

प्रयुक्त "चारुवसानः" रमणीय देह धारण कर "जिह्वया" स्वीय रसना के द्वारा "अरिं ऋञ्जते" उस आसुराग्नि को विनष्ट किये थे। अर्थात् दावानल पान किए थे। एवं "वरुणः यतन्" भक्त गोपादि को अति निज जन रूप में वरण किये थे। "तस्य" उनके इस प्रकार "पुरुषत्वता" पौरुष समूह को "वयं न विद्म" हम सब जानने में सक्षम नहीं हैं, "यतः" कारण, मनुष्यगण के मध्य में जो चीज कभी भी नहीं देखी जाती है, आपने उस प्रकार अलौकिक कर्म किया है, अर्थात् दावानल का पान अनायास ही किया है, जिनके अनुग्रह लाभ हेतु "भगः सविता" भगवान् सूर्यदेव भी उस समय वर्षा किए थे। इस मन्त्र को छोड़कर "कृष्णं त इमेति" मन्त्र भी इसका उदाहरण हो सकता है॥२५॥

सद्यो जातस्य ददृशानमोजो यदस्य वातो अनुवाति शोचिः।
वृणक्ति तिग्मामतसेषु जिह्वां स्थिराचिदन्नादयते विजम्भैः॥२६॥

ऋ. ३।५।७/ ४।७।१०

सद्योजातस्येति। सद्योजातस्य शिशोरेव कृष्णस्य उजः सामर्थ्यं ददृशानं ददृशे। दृष्टपूर्वमित्यर्थः। यच्छोचिः ज्वालाजालम् अतसेषु शुष्कतृणेषु वातोनुवाति सम्वर्द्धयति। ततः अस्य शिशोस्तिग्मां जिह्वाम्। अनु इत्यनुकृष्यते। तेन तां प्राप्येत्यर्थः रिणक्ति रिच्यते। नश्यतीत्यर्थः। स्थिराचिदन्ना यथा स्थिरं पायसाद्यन्नं तद्वदित्यर्थः। तत्र हेतुमाह– दयते, विजम्भैरिति। एवम् सद्योजातो-जम्भैरसुरै र्हेतुभिर्विशेषेण दयते तैः पीड़ितलोकं पालयति। अतो महान् कारुणि-कोऽयमेव शरणीकरणीय इति भावः॥२६॥

अनुवाद- "सद्योजातस्य" सद्योजात शिशु के न्याय अर्थात् अति बालक श्रीकृष्ण को "ओजः ददृशानं" तेज वा सामर्थ्य इसके पहले देखी गई है, "यत् शोचिः" जिस अग्निराशि को "अतसेषु" शुष्क तृणादि के मध्य में "वातः अनुवाति" वायु क्रमशः विवर्द्धित करते रहते हैं। उस अग्निसमूह "अस्य" इस बालक श्रीकृष्ण की "तिग्मां जिह्वां" सुतीक्ष्ण जिह्वा को प्राप्त कर "स्थिरा विदन्ना" जिस प्रकार स्थिर पायसादि अन्न जिह्वा को प्राप्त कर निःशेषित होता है, उस प्रकार "रिशक्तिः" निःशेष से विलीन हो गए। अर्थात् श्रीकृष्ण अति शिशु होकर भी असुररूपी दावानल को पायसान्न के समान भक्षण कर गये।

इसका कारण यह है कि "जम्भैः" असुरगण के अत्याचार हेतु आप "विद्यते" विशेष रूप दया प्रकट करते हैं। अर्थात् आप इस प्रकार दुष्कृत असुर पीड़ित लोक के प्रति दया कर पालन करते हैं। अतएव आप जब एतादृश महा कारुणिक हैं, तब इनकी शरण में आना एकान्त कर्त्तव्य है ॥२६ ॥

उपेदमुपपर्च्चन मासु गोषूप पृच्यताम्।
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्य्ये॥२७॥

ऋ. ४।६।२५/ ६।२८।८

उपेदमिति। हे उपेन्द्र तव वीर्य्ये जाग्रत्यपि सति आसु गोषु इदम् उपपर्चनं निहितस्य गर्भस्य विनाशार्थं पुनः ऋषभासुरेण क्रियामाणं रेतः सेचनम् उपपृच्यतां उपेत्य कथं समृष्टं जायताम्। उपशब्दौ पादपूरणार्थौ। ऋषभस्य रेतसि निमित्तभूते सति॥२७॥

अनुवाद- अनन्तर वृषभासुर के अत्याचार से प्रपीड़ित होकर धेनु समूह जिस प्रकार व्याकुल भाव से श्रीकृष्ण को निवेदन करने लगीं, उसका वर्णन इस मन्त्र में है। "हे उपेन्द्र"! हे श्रीकृष्ण! "तव वीर्य्ये" आपके प्रभाव से जाग्रत अर्थात् अवहित होने पर भी "ऋषभस्य रेतसि" वृषभासुर के रेतःसेक होकर अर्थात् हम सब गर्भवती धेनु हैं, हमारे गर्भनाश करने के उद्देश्य से वृषासुर द्वारा "आसु गोषु" सगर्भा धेनु के प्रति पुनर्वार "इदं उपपर्वनं" रेतः सेक क्रिया अर्थात् गर्भाधान क्रिया "उप पृच्यातां" समुपस्थित होकर किस प्रकार घोर अनिष्टोत्पादन कर रही है॥२७॥

प्रणेमस्मिन्ददृशे सोमो अन्तर्गोपानेममाविरस्था कृणोति।
स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन् द्रुहस्तस्थौ बहुले वद्धो अन्तः॥२८॥

ऋ. ८।७।६/ १०।४८।१०

इत्थं गोवचः श्रुत्वा कृष्णेन कृतो वृषभवधः प्रदेशान्तरे श्रूयते। प्रणेमस्मिन्निति। योऽन्तर्गोपाः अन्तर्यामिन् नेमस्मिन् अर्द्धे प्रपञ्चे स्थावरः सोमो नाम तत्पोषकः प्रददृशे प्रकर्षेण दृष्टो वेदे सोम औषधीनामधिपतिरित्यादौ। यश्च नेमम् अर्द्धं प्रपञ्चम् अस्था जङ्गमत्वेन आविः कृणोति विस्पष्टयति

सोऽन्तर्गोपास्तिग्मशृङ्गं वृषभं वृषभासुरं युयुत्सन् योद्धुमिच्छन्। द्रुहो द्रुह्यन् तस्थौ युद्धेन हत्वा स्थितोऽभूदित्यर्थः। कीदृशोऽसौ। बहुले महति जने संसारे अन्तःहृदय पुण्डरीकरूपे उपाधौ बद्धमायया रुद्धोस्ति। योऽयमन्तर्य्यामी जगद्धेतुः स एव जीवभावं प्राप्तान् स्वप्रतिविम्बान् स्थावरजङ्गमान् पातीति भावः ॥२८॥

अनुवाद- श्रीकृष्ण, सगर्भा धेनु वृन्दों की कातरोक्ति को सुनकर वृषभासुर को मार डाले थे। इस मन्त्र में उसका विवरण विवृत है। "नेमस्मिन्" इस अर्द्ध प्रपञ्च में, "सोम:" स्थावर सोम नामक अर्थात् वेदोक्त औषधिवृन्द के अधिपति व तत् पोषक रूप में "प्रददृशे" दृष्ट होते हैं। एवं जो "नेमं" अर्द्ध प्रपञ्च को "अस्था" जङ्गम रूप में "आविः कृणोति" प्रकटित किए हैं। "सोऽन्तर्गोपा:" वह अन्तर्यामी गोपालक श्रीकृष्ण- "तिग्मशृङ्गं वृषभं" तीक्ष्ण शृङ्ग विशिष्ट वृषासुर को "युयुत्सनुद्रुह:" युद्धेच्छु होकर युद्ध में मारकर "तस्थौ" विराज करने लगे। आप ही इस जगत् में "बहुले" निखिल जीव के "अन्त:" अन्तःकरणरूप उपाधि में "बद्ध:" मायाबद्ध होकर हैं। फलतः जो यह अन्तर्य्यामी जगत् कारण हैं, वह ही जीव भाव प्राप्त स्व प्रतिविम्ब स्वरूप में निखिल स्थावर जङ्गम की रक्षा करते हैं॥२८॥

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भद्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वोनिपाहि विश्वायुरग्ने गुहागुहङ्गाः॥ २९॥

ऋ. १-५-११/ १-६७-६

अघासुरग्रस्तमात्मानं गोपजनो निवेदयति। अजो न क्षामिति। यथा विष्णुः पृथिवीं महतीं क्षां भुवं दाधार दधार। द्यां च तस्तम्भ मन्त्रेभिः मन्त्रैः स्वीयैर्विचारैर्वलिबन्धनार्थं कृतैः सत्यै र्निमित्तभूतैः। एवमयमसुरोऽस्मान् ग्रसितुम् अधरेण हनुना भुवमाक्रम्य ऊर्द्धहनुना दिवमुत्तभ्यास्तो अतस्तं प्रियाः प्रियाणां गोपानां पश्वः पशूनां च पदानि मार्गे गमनचिह्नानि निलीनानि सर्वेषामसुरमुखे प्रविष्टत्वात् निपाहि। अर्थादर्भकानेव निपाहीत्यस्य हीनानुपलभ्य त्राहीत्यर्थः। त्राणोपायमाह। विश्वेति। विश्वायुर्विश्वस्य जीवनप्रदाता त्वम् अग्ने जीवनरूपेणान्तःप्रविष्टगुहायां गुहं गूढं यथास्यात्तथा गाः गच्छेत्यर्थः। अयं भावः। अस्य वृक्षादिना वधेऽन्तर्गतानां वधः स्यात्। अतोऽस्यान्तः प्रविश्य

इतोऽभ्यधिकया स्वशरीर वृद्ध्या एनं विदारयेति। तच्च तथैव चकार भगवान्। अतएव वाक्यशेषे समेव धीराः संमाय चक्रूरिति तच्छरीरस्य सद्माकारत्वं श्रूयते। पुराणे च तस्य गोपक्रीड़ास्थानं स्मर्य्यते। तदेव सूयवसादित्यादिना ग्रन्थेन गवां लालनपालनादिकमुक्तम्॥२९॥

अनुवाद- अनन्तर अघासुर ग्रस्त गोपगण आत्मनिवेदन कर रहे हैं- "अजः न" जिस प्रकार भगवान् विष्णु-"पृथिवीं क्षां" विपुला धरणी को "दाधार" धारण किए थे एवं "द्यां" अन्तरिक्ष को "सत्यैः मन्त्रेभिः" अवितथ अर्थ विशिष्ट अथवा निमित्तभूत मन्त्र समूह के द्वारा अर्थात् स्वीय विचार बुद्धि के द्वारा बलि को बेंधने के लिए निमित्त भूत कार्य द्वारा अर्थात् स्वीय विचार बुद्धि द्वारा बलि को बन्धन करने के निमित्त भूत कार्य के द्वारा "अस्तम्भः" स्तम्भन किए थे, उस प्रकार यह असुर हम सबको ग्रास करने के निमित्त निम्न हनु को भूतल में स्थापन कर अर्द्ध हनु को अन्तरीक्ष में स्थापन किया है, उससे सब ही प्राणी असुर के मुख में प्रविष्ट होने से "प्रियाः" प्रिय सखा गोप बालकों के एवं "पश्वः" पशुगण के "पदानि" पथ पथ में गमन चिह्न समूह जिससे निलीन न हो, "निपाहि" उसका उपाय करो, अर्थात् असुर की अपेक्षा हीन बल जानकर शिशुगण की रक्षा करो। कारण तुम ही "विश्वायः" विश्व जीवन प्रदाता हो, "हे अग्ने!" तुम ही जीवरूप में अन्तः प्रविष्ट होकर "गुदायां" हृदय रूप गुहा में "गुहं" गूढ़ रूप में "गाः" गमनशील हो। अर्थात् वृक्षादि के द्वारा उसको बध करने से यह वध कार्य साधारण वध के अन्तर्गत होगा, अतः उसके अन्तःस्थल में प्रविष्ट होकर निज शरीर वृद्धि के द्वारा उसे विदीर्ण करो। श्रीकृष्ण वैसा ही किए थे, तब उनका शरीर विस्तीर्ण हो गया था, इसमें श्रुति प्रमाण भी है "समेव धीराः संमाय चक्रूरिति"। इसका विशद वर्णन श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ में है॥२९॥

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदीद्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुसी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥३०॥

ऋ. २।३।२२/ १।१६४।४१

सम्प्रति वयःसन्धिगतस्य भगवतो गोपीविनोदादिरनुग्रह उच्यते।

गौरीरित्यादिना। पूर्वमन्त्रे ऋचो अक्षरे इत्यत्राक्षरत्वेनोक्तः सहस्राक्षरा वाक्देवता रूपाः परमे व्योमन् तीरतरोरुच्चप्रदेशे स्थित्या गौरीः पतिम्वराः कन्यामिमाय निनिन्देत्यर्थः। कथम्। सलीलानि तक्षती त्वं यदि बभूवुषी असि तर्हि एकपदीत्यादि नवपदी भवत्यन्तं। जात्यभिप्रायेणैकवचनान्तं। अयमर्थः। यतः नग्नीभूय तीर्थजलानि स्पृशन्ती स्त्री तीर्थशक्तिं क्षिणोतीति यूयं च सर्वास्तथाभूताः स्वापराधजेन दोषेणाभिभूतास्थः। यदि च तत् परिहारेण भवतीनामैश्वर्येच्छास्ति तर्हि नग्ना एव सत्यः एकपद्यो भवत एकं पदं बहिरागच्छतेत्यर्थः। तथा कृतेषु पुनर्द्विपदीभवेत्याह। एवं नवपदीत्यन्तमुक्ते तास्तंवचनमलङ्घ्यतन्तस्तथैव कृत्या वस्त्राणि परिदधुः उपबृंहणे तु व्योमस्थत्वं वस्त्राणि हरत एव उक्तम्। अतो नवपद्यनन्तरं वस्त्राणि ददावित्यपि योज्यम् ॥३० ॥

अनुवाद- सम्प्रति वयः सन्धिगत भगवान् श्रीकृष्ण के गोपीविनोदादि अनुग्रह का विषय विवृत हो रहा है। पूर्व मन्त्र में "ऋचो अक्षरे" जो अभिहित हैं, वह अक्षर रूप में उक्त "सहस्राक्षरा" वाक्देवतारूप श्रीकृष्ण "परमे व्योमन्" यमुना तीरवर्त्ति कदम्ब तरु के उच्च प्रदेश में अवस्थित होकर "गौरीः" पतिकामनापरा गोपाङ्गनागण की "मिमाय" कहकर निन्दा करने लगे, तुम सब "सलिलानि तक्षती" नग्नावस्था में तीर्थजल स्पर्श करके अच्छा नहीं किये, कारण स्त्रीगण तीर्थ शक्ति को क्षीण करती हैं। सुतरां तुम सब यह गर्हित कर्म करके "बुभूवुसी" निज निज अपराध से दोषी बन गई हो। यदि उक्त दोष परिहार के निमित्त ईश्वर के निकट तुम सबकी इच्छा हो, तब उस नग्नावस्था में तुम सब "एकपदी द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टपदी नवपदी भवतः" जल से उठकर तीर के ओर एक पैर से आ जाओ। व्रजाङ्गनागण उस प्रकार करने पर उन्होंने पुनर्वार बोला, "द्विपदा" दो पद से आओ। इस प्रकार नौ पद पर्य्यन्त आने के लिए कहने से उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण वाक्य को लङ्घन न करके ही उस भाव से वहाँ पर जाकर वृक्षस्थित निज निज वस्त्र ग्रहण कर परिधान किया ॥३० ॥

ओर्व्वप्रा अमर्त्त्यानिवतो देव्युद्वतः ज्योतिषा वाधते तमः ॥३१ ॥

ऋ. ८।७।१४/ १०।१२७।२

एवं विप्रलब्धानामपि तासामात्मन्यनुरागमालक्ष्य शारदिकासु रात्रिषु ताभ्यो रतिमदात्। तत्र रात्रिं वर्णयत्यृषिः। ओर्व्वप्रा इति। हे रात्रि त्वं देवी दीव्यन्ती अमर्त्त्या अमानुषी त्वं ओरू अन्तरीक्षं तेन तत्रस्था इन्द्रवाय्वाद्याः लक्ष्यन्ते। तान् यथा निवतो निहीनं स्थानं येषामस्ति तान् निवतो भूचरान् एवं उद्वतो देवगन्धर्वादींश्य अप्राः प्रतीतवत्यसि, यतो भवती ज्योतिषा चान्द्रेण तमो वाधते ज्योत्स्नावत्यो रात्रय स्त्रैलोक्यमानन्दयतीत्यर्थः॥३१॥

अनुवाद- इस प्रकार श्रीकृष्ण, उस विप्रलब्धा व्रजाङ्गनागण के हृदय में प्रबल अनुराग को देखकर शारदीया रजनी में महारासलीला के छल से उन सबको अभीप्सित रतिदान किए थे। इस मन्त्र में ऋषि उस रात्रि की कथा का वर्णन करते हैं, "हे रात्रि"! तुम "देवी" देदीप्यमाना, "अमर्त्त्या" अमानुषी अर्थात् अलौकिकी हो। तुम ही "ओरुः" अन्तरिक्ष हो, तुमसे ही अन्तरिक्षस्थ इन्द्र वायु प्रभृति देवगण लक्षीभूत होते हैं। जिस प्रकार "निवतः" निकृष्ट स्थानचारी अर्थात् भूतलवासिगण को जानती हो, उस प्रकार "उद्वतः" विमानचारी देव गन्धर्वादिक को भी "अप्राः" ज्ञातवती हो। कारण तुम ही "ज्योतिषा" शारदोत्फुल्ल चन्द्रकिरण द्वारा "तमः बाधते" अन्धकार विदूरित करती रहती हो। फलतः ज्योस्नावती रात्रि समूह त्रैलोक्य का ही आनन्द वर्द्धन करती रहती हैं॥३१॥

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत् त्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥३२॥

ऋ. १।५।१०/ १।६६।४

सेनेवेति। यमोऽग्निरूपोऽन्तर्य्यामी जातोऽतीतोऽर्थः सर्वोऽपि स एव। एवं जनित्वं जनयितव्यमपि स एव। अतः स एव कनीनां कन्यानां युवतीनां च जारः पतिश्च सन् तासु अमं सुखं दधाति धारयति, तथा कन्या जनी च जारेष्वमं दधाति। सर्वत्र एकवचनं जात्यभिप्रायम्। तत्र दृष्टान्तः। अस्तुः जलप्रक्षेप्तुर्मेघस्वन इव विद्युत् यथामं कान्तिं दधाति तथेत्यर्थः। कीदृशी। सेनेव सर्वाङ्ग साकल्येन सृष्टा कन्या जनीच प्रतीका दीप्यमाना। शरीराः स्त्रियः कृष्णाश्चान्योन्यं विद्युत् घन शोभां जनयन्तः क्रीड़न्तः इत्यर्थः॥३२॥

अनुवाद- भगवान् श्रीकृष्ण ही "यमः" अग्निरूप अन्तर्यामी अथवा

स्तोतृगण को उनके अभिमत फल प्रदानकारी हैं, एवं जो "जातः" उत्पन्न हुए थे वे अतीत अर्थसमूह एवं जो "जनित्वं" उत्पन्न होंगे, वे भविष्यत् अर्थ समूह भी "यमः ह" उन भगवान् श्रीकृष्ण में ही पर्य्यवसित हैं, अर्थात् भूत भविष्यत् वर्त्तमान् के जो कुछ पदार्थ हैं सब ही श्रीकृष्ण हैं। अतएव आप ही "कनीनां" कन्यागण के अर्थात् व्रजाङ्गनागण के "जारः" उपपति हैं, एवं "जनीनां" व्रजयुवतीगण के अथवा द्वारकादि धाम में महिषीगण के "पतिः" स्वामीरूप में स्वयं जैसे उन सबके हृदय में "अमं दधाति" सुख विधान करते रहते हैं। उस प्रकार कन्या-युवती गण के हृदय में एवं उनके जार व पति के हृदय में सुख की अमृत धारा प्रवाहित करते रहते हैं। दृष्टान्त के द्वारा उसे सुस्पष्ट कर रहे हैं। "अस्तु र्न दिद्युत्" वर्षणशील मेघ के सहित सर्वदा विद्युत् जिस प्रकार "अमं दधाति" कान्ति धारण करती है, अर्थात् नवनीरद के समीप में सौदामिनी की शोभा जिस प्रकार नयनानन्द विधायिनी होती है वे सब भी उस प्रकार आनन्द विधान करती हैं। इस रीति से ही वे "सेनेव सृष्टा" सनाथ सेना की भाँति सर्वाङ्ग सम्पन्ना रूप में सृजिता "त्वेष प्रतीका" दिव्य मूर्त्ति धारिणी कन्या युवतीगण व श्रीकृष्ण परस्पर विद्युत् घन शोभा उत्पादन कर क्रीड़ा किए थे॥३२॥

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽच्चर्य्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥३३॥

ऋ. १।१।१९/ १।१०।१

अत्र स्त्रीणामाकर्षणार्थं भगवता वंशीरवः कृतः। तं वर्णयत्यृषिर्द्वाभ्याम्। गायन्तीति। हे शक्रतो तदुपाधिकविष्णो त्वा त्वां गायत्रिणो गायत्र्याख्यो सामगातारो गायन्ति। तथार्किणः सोमाज्यपयः प्रभृतिद्रववन्तो यजमानाः अर्कमण्डलान्तःस्थं त्वाम् अर्चन्ति पूजयन्ति ये तु त्वां गेयमर्च्यं च वंशमिव मुरलीकाण्डमिव तदेव वादयितुं उद्येमिरे उद्यमं कारितवन्तः। ते वृन्दावनस्थाः स्थावरजङ्गमाः। ब्राह्मणा एव त्वच्छरीराश्रिताऽनेककोटिब्रह्माण्डाधिपतयो अत्र स्थावरादिरूपेण स्थित्वा त्वां मुरलीवादने प्रवर्त्तयन्तीत्यर्थः॥३३॥

अनुवाद- व्रजाङ्गनागण को रासक्रीड़ा में आकर्षण करने के निमित्त

श्रीकृष्ण जो वंशीवादन किए थे, परवर्त्ती मन्त्रद्वय में ऋषि उसका वर्णन कर रहे हैं। "हे शतक्रतु!" हे तदुपाधिक विष्णो! हे कृष्ण! "त्वा गायत्रिण:" आपको सामवेदीय उदगातृगण अर्थात् गायत्री आख्याधारी सामगायक समूह उच्चै: स्वर से सामगान करते हैं, अर्थात् वे सब आपकी स्तुति करते रहते हैं। एवं "अर्किण:" ऋग्वेदीय होतृगण व सोमाज्य पय प्रभृति यज्ञीय द्रव्यविशिष्ट यजमानगण "अर्कं" सूर्य्यमण्डलवर्त्ती आपकी अर्चना करते रहते हैं, सुतरां आप ही गेय एवं आप ही अर्च्चनीय हैं। "वंशमिव" जो लोक आपको वंश के समान मुरलीकाण्ड को बजाने के लिए "उद्येमिरे" उद्यम किए थे वे सब "ब्रह्माण:" आपके शरीराश्रित अनन्त कोटि ब्रह्माण्डाधिपति हैं, वे सब ही श्री वृन्दावन में स्थावर जङ्गमादि रूप में अवस्थित होकर आपको मुरली वादन में प्रवर्त्तित किये थे ॥३३ ॥

यत् सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थश्चेतति यूथेन वृष्णिरेजति॥३४॥

ऋ. १।१।१९/ १।१०।२

यत् सानोरिति। इन्द्रो भवान् यत् यदा सानोः सानुम् उच्चादुच्चं स्थानम् आरुहत् आरूढ़वान् कर्त्तं कर्त्तव्यं च वंशीरवम् ततः स्थानात् भूरि अत्यन्तम् अस्पष्ट स्पष्टीकृतवानसि सर्वेषां श्रवणगोचरं कृतवानसि तत् तदा अर्थमर्थ्यमानं जड़मपि स्थावरं चेतति चेतनवत् आह्लादवत् भवति किमुत जङ्गमः, तदा च वृष्णिवंश्यः कृष्णः स्वयूथेन सह एजति एजते अत्यन्तं शोभते इत्यर्थः॥३४

अनुवाद- "इन्द्र!" हे श्रीकृष्ण! आप ही इन्द्र हो। आप "यत्" जिस समय में "सानोः सानुं" गोवर्द्धन गिरि के उच्च से उच्चतम सानुदेश में "आरुहत्" आरोहण करते हैं एवं "कर्त्त्वं" आपका कर्त्तव्य कर्म्म अर्थात् वंशीध्वनि को उस स्थान से "भुवि अस्पष्ट" अत्यन्त स्पष्टीकृत करते हैं "तत्" उस समय उस वंशीध्वनि को सुकर "अर्थं" अर्थ्यमान् जड़स्थावर भी "चेतति" चेतनवत् आह्लाद प्राप्त करते हैं। सुतरां जङ्गम जीव के लिए तो कहना ही क्या है? इस प्रकार उस समय "वृष्णि:" वृष्णिवंश सम्भूत श्रीकृष्ण "यूथेन" स्वीय परिवार वर्ग के साथ "एजति" अत्यन्त शोभित हुए थे॥३४॥

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजंषलिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥३५॥

ऋ. २।३।१६/ १।१६४।१५

ननु धर्मसंस्थापनार्थमवतीर्णस्य भगवतो वाल्ये मातृत्यागादिकं वयःसन्धौ च जारकर्मेत्येतदयुक्तमित्याशङ्का परिहरति श्रुतिः। साकं जानामिति। ये पूर्वं सप्त अर्धगर्भाः उक्ताः तेषां साकं जानां सहजातानां मध्ये सप्तथं सप्तमम् एकजम् एकस्य ब्रह्मणोंशाज्जातं जीवमाहुः। षलित् षड़ेव षमाः यमलजाः ऋषयः षड़िन्द्रियाणि ''प्राणा वा ऋषयः'' इति श्रुतेः। देवजा देवेभ्य-श्चन्द्रादिभ्यो जाता इति आहुः। तेषामृषीणाम् इष्टानि इष्टादिफलभूतानि शरीराणि धामशः धामसु अधिदेवं स्वे स्वे स्थाने विहितानि विशेषेण धृतानि सन्ति चन्द्रादिमण्डलेषु। तान्येव स्थात्रे सप्तमजीवस्य भोगार्थं रूपशः रूपैरिति रूपशः तत्तत्पुरुषीय श्रोत्रादिरूपेण विकृतानि सन्ति रेजन्ते शोभन्ते लोके। एतेन करणानि लौकिकदृष्ट्या नित्यान्यपि अध्यात्मदृष्ट्या विधात्रासनायां लयोदयवन्ति, भोक्ता तु स्थिर इति सप्तमगर्भमन्त्रस्य तात्पर्य्यं दर्शितं। अयं भावः। यथा भारते जरत्कारवे पितृभिः कुशस्तम्बमूलगर्त्त मूषिकादिरूपकेण स्ववंशस्तम्बपुरुषसंसारावलिः प्रदर्शिता एवमत्र देवक्यादिरूपकेणाध्यात्मिकोर्थो दर्शितो न त्विहाख्यायिकायां तात्पर्य्यमिति॥३५॥

अनुवाद- यदि कहो कि श्रीभगवान् जब धर्म संस्थापन के लिए अवतीर्ण हुए थे तब बाल्य में मातृत्यागादि, एवं कैशोर में जार कर्म उनके लिए सम्पूर्ण अयुक्त है। इस आशङ्का का परिहार के लिए कहते हैं- जो पहले सप्तगर्भ नाम से कथित है उनके "साकंजानां" सहजातगण के मध्य में "सप्तथं" सप्तम ही "एकजं आहुः" उस अद्वितीय ब्रह्मांश से जात जीव नाम से अभिहित हैं। एवं "षड् इत् यमाः" अपर छह यमज हैं, अर्थात् सहजात ही "ऋषयः" जीव की षड़िन्द्रिय "पञ्चेन्द्रिय व मन" व "देवजाः इति" चन्द्रादि देवगण से जात है, इस प्रकार कथित है। यहाँ "ऋषयः" वाक्य से जो इन्द्रिय एवं प्राण का बोध होता है, वह वृहदारण्यक उपनिषद् के "प्राणा वा ऋषयः" इत्यादि वाक्य से प्रमाणित है। "तेषां" उस इन्द्रियगण के "इष्टानि" इष्टादि फलभूत देह निचय "धामशः" चन्द्रमण्डलादि धाम समूह के मध्य में अधिदेव के रूप

में स्वस्वस्थान में "विहितानि" अधिष्ठित हैं। वे ही "स्थात्रे" इस अधिष्ठित स्थान में जीव के सुखभोग विधानार्थ "रूपशः" उस उस पुरुष के श्रोत्रादि रूप में "विकृतानि" विकार प्राप्त होकर जगत में "रेजन्ते" शोभित हैं। इस प्रकार इन्द्रिय समूह लौकिक दृष्टि से नित्य होने पर भी अध्यात्म दृष्टि से विधाता के द्वारा नियोजित अधिष्ठान में वे सब लय व उदयविशिष्ट हैं, अर्थात् अनित्य है, किन्तु जो भोक्ता है, वह स्थिर है। सप्तम गर्भ मन्त्र का यह तात्पर्य्य है। अतएव बाल्यकाल में श्रीकृष्ण का मातृ त्याग लौकिक दृष्टि से दूषणीय होने पर भी आध्यात्मिक व पारमार्थिक भाव से वह सम्पूर्ण निर्दोष है। इसका दृष्टान्त स्वरूप महाभारत के आदि पर्व में वर्णित जरत्कारुमुनि एवं उनके पितृगण के उपाख्यान को उठाया जा सकता है। एकदा जरत्कारु मुनि भ्रमण करते करते देखे थे कि- कतिपय व्यक्ति मूषिक द्वाराच्छिन्न मूल उषीर स्तम्ब को अवलम्बन कर ऊर्द्ध्वपाद व अधोमस्तक होकर एक गर्त्त में हैं वे सब ही उक्त मुनिवर के पितृगण हैं। यहाँ कुश स्तम्ब मूल ही स्ववंश स्तम्भ जरत् कारु है, महागर्त्त-संसार है, मूषिक काल है, जरत् कारु विवाहादि न करने से कुल क्षय के कारण ही उक्त रूपक प्रदर्शित हुआ है, उस प्रकार देवकी प्रभृति रूपक के द्वारा आध्यात्मिक अर्थ ही प्रदर्शित हुआ है, इसमें आख्यायिका का तात्पर्य्य सूचित नहीं हुआ है। (उक्त संशय में श्रीपाद रूप सनातन जीव गोस्वामिगण के विशद विचार मीमांसा, गभीर गवेषणामूलक युक्ति सिद्धान्त के ऊपर प्रतिष्ठित है, सुतरां विस्तारित भाव से अवगत होने के निमित्त श्रीमद्भागवतस्थ उन सबकी टीका एवं श्रीगोपाल चम्पू प्रभृति ग्रन्थ का अध्ययन परम आवश्यक है, कारण वेद में बीजाकार में निहित वस्तु ही पुराणादि में पल्लवित होकर विपुलायत विटपी रूप है।) ॥३५॥

अतारिषुर्भरतागव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।
प्रपिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आवक्षणाः पृणध्वं यातशीभं॥३६॥

ऋ. ३।२।१४/ ३।३३।१२

अथ विश्वामित्रो नदीसमुद्रोपदेशेन गोपीः कृष्णं प्रत्यभिसारयति। अतारिषुरिति। भरताः भरन्ति धारयन्ति पुष्णन्ति वा कर्मोपास्तिजं धर्ममिति

भरताः सद्भक्ताः, गव्यवः गाः आत्मनः इच्छन्ति ते गोधन पुष्टिमिच्छन्ता गोपाः भूत्वेति शेषः। अतारिषुः तीर्णाः। संसारमित्यर्थात्। समतारिषुरिति वा सम्बन्धः। तथा विप्रः सर्वेषां भक्तानां मध्ये महत्तमः ब्रह्मादीनाम्। नदते र्नन्दते र्वा नदट् नदीनां प्रवाहगतानां वादवाचां वा समृद्धिमतीनां प्रस्रवन्तीनां गो-गोपीनां वा सम्बन्धिनीं सुमतिं तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं वा वत्सवत्सपभूते भगवति तदीयं ज्ञानं वा। समभक्त सम्यग् सेवत लब्धवानित्यर्थः, अतः गोपाः गोप्यो गावश्च स्तोकवत्यो भगवत्सङ्गेन निस्तीर्णाः। यूयं तु अतोकवत्यो युवतयः साक्षाद्भगवत् अङ्गसङ्गेन तर्त्तुं तमेवशीभं यातः गच्छत। तत्सङ्गेनात्मानं च प्रपिन्वध्वं प्रकर्षेण परमानन्दावाप्त्या तर्पयध्वम्। कीदृश्यः। यूयम् इषयन्तीः इच्छन्त्यः। इषेः स्वार्थे णिचि गुणाभावः जसि पूर्वसवर्णदीर्घश्च छान्दसः। सुराधाः शोभना मुख्या राधा यासु ताः सुराधाः। राधाया मुख्यत्वं तु ब्रह्मवैवर्त्ते प्रथमांशे पद्मपुराणे उत्तरखण्डे कार्त्तिकमाहात्म्यादौ च प्रसिद्धम्। पुनः कीदृश्यो यूयम्? वक्षाणाः नद्य इव समुद्रम् आपृणध्वम् आपूरयध्वम्। अत्र षातेति व्यापकं प्रतिगमनं पूर्णस्य पूरणं तृप्तस्य तर्पणं चानन्यशरणासु गोपीषु भगवतोप्यौत्सुक्यप्रदर्शनेन भक्तिमाहात्म्यद्योतनार्थम्। तथाह्युक्तं "स्फूटमनुगवशत्वं नाथ ते" भीष्ममाषामृतयितुमनृतेशश्चक्रिणः पार्थसौत्येति। शीभं शेतेस्मिन् सर्वमिति शीः भाति स्वयंज्योतिष्ट्वेन प्रकाशते इति भः शीश्चासौ भश्चेति शीभस्तं सर्वालयाधिष्ठानचिन्मात्रस्वरूपमित्यर्थः। यद्वा शीभृ कथने शीभन्ते कत्थन्ते श्लाघन्ते आत्मानमनेनेति शीभः। अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामिति करणे यः। यं प्राप्य भक्ताः कृतार्थमात्मानं मन्यन्त इत्यर्थः। एवं विश्वामित्रेणाज्ञप्ताः गोपदारिकाः श्रीकृष्णमभिसस्रुरित्यवगन्तव्यम्। केचित्तु सुराधा इत्यस्य सुराधसमिति व्याख्यानं कुर्वते तेषां सुराधः शब्दस्य सान्तत्वकल्पने "सपिष्टेन शोचिषा यः सुराधः" इतिवदेकवचनान्त-समभिहारादिकं निमित्तं नास्ति। विशेषतस्तु बहुवचनान्त स्त्रीलिङ्गसमभिव्याहारात् सुराधाशब्दः आवन्त एव। "स्तोत्रं राधाणां पते" इत्यादौ स्वरान्तस्यापि स्पष्टं दर्शनात्॥३६॥

अनुवाद- अनन्तर ऋषि विश्वामित्र नदी व समुद्र की उपमा के छल से श्रीकृष्ण के प्रति गोपीगण के अभिसार लीला का वर्णन कर रहे हैं।

"भरता:" जो सब भगवत् कर्मोपासना जन्य धर्म का धारण पोषण करते हैं। अर्थात् सद्भक्तगण "गव्यव:" गो समूह को आत्मस्वरूप मननकारी अथवा गोधन पुष्टि कामी गोपमूर्त्ति परिग्रह करके "अतारिषु:" दुष्पार संसार से उत्तीर्ण हो गए थे। एवं जो "विप्र:" निखिल भक्तजन के मध्य में ऐसा कि ब्रह्मादि के मध्य में भी महत्तम है, उस प्रेमिक भक्त भी "नदीनां" जो निखिल जगत् को आनन्दित करता है, उस प्रवाहगत वेदवाक्य की अथवा समृद्धि शालिनी प्रस्त्रविणी की भांति विनिर्गता गो-गोपीगण सम्बन्धिनी "सुमतिं" तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थ ज्ञान अथवा वत्स, वत्सपालकभूत भगवान् श्रीकृष्ण सम्बन्धीय ज्ञान वा भक्ति "समभक्त" सम्यक् रूप से प्राप्त किये थे। अतएव गोप, गोपी, गो समूह वत्स युक्त होकर भगवत् सङ्ग प्राप्त कर निःसन्देह से संसारोत्तीर्ण हो गए थे। किन्तु तुम सब तो उन सबके समान शिशु वत्सवती नहीं हो, तुम सब युवती नवतरुणी हो, जब "इषयन्ती" श्रीकृष्ण सङ्गाभिलाषिणी हो गई हो तब साक्षात् भगवत् अङ्ग सङ्ग द्वारा इस संसार जलधि से उत्तीर्ण होने के निमित्त "शीभं" निखिल विश्व जिसमें अवशेष प्राप्त होते हैं, एवं जो स्वयं ज्योति से प्रतिभासित हैं, वह सर्वलयाधिष्ठान चिन्मात्र स्वरूप है। अथवा जिनको प्राप्तकर भक्तगण अपने को कृतार्थ मानते हैं उन श्रीकृष्ण के निकट "यात" गमन करो, एवं तुम सब "सुराधा" गोपाङ्गना यूथ में वरिष्ठा शोभना श्रीराधा जिनके मध्य में विराजमाना हैं, एतादृशी श्रीराधा के प्रिय सहचरी रूप में अथवा श्रीराधा प्रमुख रूप में श्रीकृष्ण सङ्ग सुख में "प्रपिन्वध्वं" प्रकृष्ट रूप में परमानन्द व्याप्ति के द्वारा अपने को पुनः पुनः परितृप्त करो। गोपीगण के मध्य में श्रीराधा का मुख्यत्व ब्रह्म वैवर्त्त पुराण के श्री जन्म खण्ड में एवं पद्म पुराण के उत्तरखण्ड के कार्त्तिक माहात्म्य में उल्लिखित है। पुनश्च तुम अब "वक्षाणा:" नदी समूह जिस प्रकार सागर में मिलित होती है, उस प्रकार तुम सब भी "आपृणध्वं" प्रेमामृत सिन्धु श्रीकृष्ण के साथ सम्मिलित होकर श्रीकृष्ण को आनन्द रस से पूर्ण करो। यहाँ "यात" "पृणध्व" इत्यादि वाक्य में जो व्यापक के प्रति व्याप्य का गमन, पूर्ण का भी पूरण, तृप्ति का भी तर्पण उल्लिखित है, अनन्यशरणा गोपाङ्गना के मध्य में भगवान् का औत्सुक्य प्रदर्शन के सहित प्रेम भक्ति माहात्म्य प्रकटन ही उसका तात्पर्य्य है। भीष्म देव ने

कहा ही है "स्फुटमनुगवशत्वं नाथ ते" अर्थात् हे नाथ! हे श्रीकृष्ण! आप में भक्ताधीनता स्पष्ट व परिस्फुट है। इस भीष्म वाक्य को सत्य करने के लिए ही भगवान् चक्रधारी अर्जुन का सारथ्य किए थे। इस प्रकार ऋषि विश्वामित्र की अनुज्ञा के अनुसार ही जैसे गोप कन्यागण श्रीकृष्ण के प्रति अभिसार किए थे। आलोच्य ऋक् में "सुराधाः" पद का "सुराधः" पाठान्तर कल्पना करते हैं, किन्तु बहुवचनान्त स्त्रीलिङ्ग के साथ सुराधाः पद ही समधिक उत्तम है॥३६॥

स्त्रियः सतीस्तां उमे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदंधः।
कविर्यः पुत्रः स इमाचिकेत यस्ता विजानात् सपितुष्पितासत्॥३७॥

ऋ. २।३।१७/ १।१६४।१६

द्वितीयं दोषं परिहरति। स्त्रियः सतीरिति। स्त्रियः गोप्योऽपि सतीः अविच्युतस्वधर्मा एव। यतः तान् ताः। पुंस्त्वमार्षम्। "ता उम" इति तैत्तिरीयाः स्त्रीत्वमेवात्र दर्शयन्ति। ताः स्त्रियः पुंसः महापुरुषसम्बन्धिनीरेवाहुः। जगदात्मना कृष्णेन सह रममाणानां तासां न पातिव्रत्यभङ्गोऽस्तीत्यर्थः। एवं पश्यन् अक्षण्वान् चक्षुष्मान् न विचेतत् एतत्जानन् अन्ध एव। एवं यः कविरेकान्तदर्शी भगवल्लीला तात्पर्य्याभिज्ञः स इमा इमानि सर्वाणि भूतानि चिकेतजानीते यश्च ताः विज्ञा विजानीते स पितुष्पिता गुरोरपि गुरुः सन् आसत् दप्यते। अत्राप्याख्यायिकायां तात्पर्य्यभावादर्थान्तरमेव विवक्षितमिति न कश्चिद्दोषः, इत्यर्थः॥३७॥

अनुवाद- इस मन्त्र में श्रीकृष्ण के द्वितीय जार दोष का परिहार किया जा रहा है, "स्त्रियः" गोपाङ्गनागण- "सतीः" अविच्युत स्वधर्म्मा हैं, अर्थात् वे कभी भी स्वधर्म अथवा पातिव्रत्य धर्म से विच्युत नहीं हुईं। कारण- "तान् उ" वे सब गोपाङ्गना "मे पुंस" महापुरुष रूपी मदीय सम्बन्धिनी "आहुः" हुईं थीं। एतज्जन्य ही जगदात्मा श्रीकृष्ण के सहित रमण करने पर भी उनके पातिव्रत्य भङ्ग नहीं हुआ है। इस प्रकार "पश्यन्" दर्शन करके भी जो "अक्षश्वान्" चक्षुष्मान् है अर्थात् ज्ञानदृष्टि सम्पन्न व्यक्ति "न विचेतत्" उसके अन्तर्निहित सूक्ष्म भाव को हृदयङ्गम करने में समर्थ नहीं होता है। वह चक्षुष्मान् होने पर भी "अधः" दृष्टि शक्तिहीन है। अथवा उक्त सूक्ष्मतत्व "अक्षण्वान्"

चक्षुष्मान् व्यक्ति ही अवगत हो सकते हैं किन्तु "अन्ध:" जिसकी नेत्रदृष्टि सूक्ष्मदृष्टि नहीं है, वह स्थूल दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति "न विचेतत्" कदाच् जान नहीं सकता है। इस प्रकार "य: कवि:" एकान्तदर्शी अथवा भगवल्लीला तात्पर्य्याभिज्ञ है, "स:" वह ही "इमा आचिकेत" इस निखिल भूत को सर्वतो भाव से जानता है। एवं "पुत्र:" जगत् का त्राणकर्त्ता पुत्र स्थानीय है। किन्तु जो "ता:" उन गोपाङ्गनागण को "विजानीत्" विशेष रूप से जानता है, "स: पितु: पिता" वह पिता का पिता अर्थात् गुरु के गुरु महागुरु रूप में "आसत्" दीप्तमान होता है। यहाँ पर आख्यान भाग का तात्पर्य्य भाव से अर्थान्तर विवक्षित हुआ है, किन्तु इसमें कोई दोष नहीं हुआ है॥३७॥

अव: परेण पर एनावरेण पदा वत्सं विभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्द्धं परागात् क्वस्वित् सूते नहि यूथे अन्त:॥३८॥

ऋ. २।३।१७/ १।१६४।१७

एतदेव स्पष्टयति। अव इति। परेण पदा निवृत्तिरूपेणावलम्बनेन अव: चरं वत्सं धर्मं विभ्रती प्रकाशयन्ती तथा अवरेण प्रवृत्तिरूपेण पदा पर: परं धर्मं प्रकाशयन्ती गौ वाणी एना: एता: एतानि आख्यानानि उदस्थात् उत्क्रम्य स्थितवती, न हि वेदे आख्यायिकाप्रतिपाद्यन्ते। अपितु तद्द्वारेण परापररूपो धर्म एवेत्यर्थ:। सा प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपा वाक् कद्रीची केन सह अञ्चति प्रकाशते कमर्थं वाच्यवृत्याभिधत्ते कंस्विदर्द्धं किंवा स्थानं परागात् दूरं गतवती। किं तात्पर्य्येण प्रतिपादयति। क्व स्वित् सूते कस्मिन्नधिकारिणि प्रवृत्तिरूपं फलं जनयति तत्सर्वं दुर्ज्ञेयमित्यर्थ:। हि यस्मात् इयं यूथे अन्तर्न यौति मिश्रीभवति पृथङ् न भवतीति यूथमनात्मा अवान्तर वाक्यानि वा जड़ संघात: कथा प्रबन्धो वा तत्र अन्तस्तन्मात्रपर्य्यावसायिनी न हि। किन्तु संघातादन्यमेव प्रतिपादयतीत्यर्थ:। यथा "न हिंस्यात् सर्वाभूतानीति" रागत: प्राप्तहिंसा निवृत्ति- मुखेनाहिंसाख्यो योगाङ्गभूतो यमविशेषो विधीयते स एव सम्यगनुष्ठित: "अहिंसाप्रतिष्ठितायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:" इति योगशास्त्रोक्तं फलं प्रसूते। न चैतदस्य फलम्। किन्तु निरोध ासमाधिरेव। तथा च निवृत्तिमुखेनावरधर्मार्थमपि विधीयमानं साधनं परधर्म एव पर्य्यवस्यति। प्रवृत्तिमुखेन परमो धर्मस्त्वाख्यायिकाभ्य एव उन्नेय:। पूर्वमन्त्रोक्त

दिशा "चित्कृष्णो वृत्तिगोपीषु विद्यां वा नितरां जहौ। तां च त्यक्तैक्यतृप्तः संस्ताभ्योऽदांदिति जीविते" इति क्रीड़ा तात्पर्य्यम् ॥३८॥

अनुवाद- इस ऋक् में उक्त तात्पर्य्य विशद भाव से विवृत है। जो "परेण पदा" निवृत्त पथ को अवलम्बन कर "अवः" विचरण कर "वत्सं" धर्म को "विभ्रती" प्रकाश करता रहता है, एवं "अवरेण" जो प्रवृत्ति मार्ग को अवलम्बन कर "परः" परमधर्म का प्रकाश करता है, उस "गौः" वाणी अथवा श्रुति समूह "एना" यह सब आख्यान को "उदस्थात्" उक्रमण कर अवस्थान करती हैं। कारण कोई आख्यायिका वेद का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। कारण- उससे परावर धर्म प्रतिपादित हुआ है। "सा" उस प्रवृत्ति निवृत्ति रूपा वाणी "कद्रीची" किस के साथ युक्त होकर प्रकाश पाती है? अर्थात् वाच्य वृत्ति के द्वारा कौन सा अर्थ अभिव्यक्त हुआ है?

"कंस्विद् अर्धं" किस स्थान को "परा अगात्" दूर से प्राप्त होता है? अर्थात् तात्पर्य्य के द्वारा किसका बोध होता है? एवं "कुस्वित्सूते" किस अधिकारी में प्रवृत्ति रूप फल उत्पन्न होता है? वे सब ही दुर्ज्ञेय हैं। "हि" कारण- यह वाणी अनात्म अवान्तर वाक्य समूह में वा जड़ सम्बन्धीय कथा प्रसङ्ग में "अन्तर्णि" तन्मात्र पर्य्यवसायिनी नहीं है। अर्थात् वह कथा, प्रबन्ध का अन्तर्भुक्त नहीं है। परन्तु उस जड़ीय मिश्र वाक्य का अतीत अन्यदीय का प्रतिपादन करती है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार किसी "प्राणी की हिंसा न करो" इस वाक्यानुसार क्रोध वशतः हिंसा का उदय होने पर भी उसकी निवृत्ति जो अहिंसा है, उसका अनुष्ठान योगाङ्ग भूत यम विशेष का बोध होता है, उसका अनुष्ठान सम्यक् रूप से होने पर "अहिंसा प्रतिष्ठितायां तत् सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् अहिंसा की प्रतिष्ठा का उदय होने पर शत्रु भी वैर भाव त्याग करता है, इस योगशास्त्रोक्त फल का उदय होता है। किन्तु वह ही उसका फल नहीं है, किन्तु निरोध समाधि ही उसका फल है। उस प्रकार निवृत्ति मुख से अवर धर्मार्थविहित साधन भी परम धर्म रूप में पर्य्यवसित होता है, एवं प्रवृत्ति मुख से परम धर्म भी आख्यायिका समूह से उन्नत है। अतएव चित् स्वरूप श्रीकृष्ण, वृत्ति रूपा गोपीगण के भेद ज्ञान को निरस्त कर परैक्य लाभ से तृप्त हो गए थे, यह ही रासक्रीड़ा का तात्पर्य्य है॥३८॥

अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्रवोचद्देवं मनः कुतो अधिप्रजातम्॥३९॥

ऋ. २।३।१७/ १।१६४।१८

एतदेव वत्सादीन् हृतान् ब्रह्मणा ज्ञात्वा उक्तमित्याह– अव इति। अस्य जगतः पितरं यो नु वेदवरेण शास्त्राचार्य्योपदेशेनानुजानाति स कवीयमानो वस्तुतत्वालोचनपरः कः प्रजापतिः इह लोके प्रवोचत् प्रोक्तवान्। किं प्रोक्तवान्? देवं क्रीड़ापरं मनः कुतो अधिप्रजातं तन्मनसो योनिभूतं वासनाजालमेव संसारमूलमित्युक्तवानित्यर्थः। सर्वोप्युपदेशो मनोनिग्रहान्त इति भावः। शेष मुक्तार्थम् 'ये अर्वाञ्च' इति ऋग् व्याख्यातारः। 'द्वा सुपर्णेति' ऋक्कथा पक्षे यथाश्रुतार्थैव। 'अन्यः एकः अभिचकाशीति' सर्वतः प्रकाशते, शेषं स्पष्टम्॥३९॥

अनुवाद- इस प्रकार ब्रह्मा के द्वारा वत्स के अपहरण को जानकर कहते हैं, "अवः अस्य पितरं" अवशेष रूप में अवस्थित इस जगत् पिता को "यः परेण" जो परम पुरुष रूप में एवं "एना अवरेण" शास्त्राचार्यगण के उपदेश के अनुसार "अनुवेद" क्रमशः अवगत होते हैं। ''परः'' परिशेष में वह "कवीयमानः" वस्तुतत्वालोचनपर "कः" कोई प्रजापति ब्रह्मा "इह" इस लोक में "प्रवोचत्" इस प्रकार कहे थे। "देवं मनः" क्रीड़ा पर अथवा देव विषयक अलौकिक मन "कुतः अधिप्रजातम्" किस प्रकार अथवा किस अदृष्ट विशेष से ऐसा उत्कर्ष के साथ समुत्पन्न हुआ? फलतः उस मन की योनिभूत वासना भाग ही संसार का मूल कारण है। उक्त वाक्य से इसका ही प्रकाश हुआ है। अतएव सकल उपदेश ही मनोनिग्रह के उद्देश्य से प्रयुक्त हैं, इसके बाद के "ये अर्वाञ्च" इत्यादि ऋक् व्याख्यातृगण शेषार्थ का प्रकाश किए हैं। इस प्रकार "द्वा सुपर्णेति" ऋक् मन्त्र से यथाश्रुत अर्थ ही प्रकाशित हुआ है॥३९॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेशं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः समाधीरः पाकमत्राविवेश॥४०॥

ऋ. २।३।१७/ १।१६४।१९

कुत्र शब्दितस्य ब्रह्मण एवं ज्ञानं जातं तदाह। यत्रेति। यत्र स्थाने सुपर्णाः प्रीणं गोपाः अमृतस्य भागमन्नस्य कवलमणिमेषं निमेषमात्रमपि कालमनतिक्रान्तं विदथाज्ञानेन स्व प्रत्ययेन मन्यमानाः अभिस्वरन्ति एहि कृष्ण कृष्ण कृष्ण इति कृष्णं गवामन्वेषणार्थं गतम् अभितः स्वरन्ति आकारयन्ति। अत्र स्थाने इनः स्वामी विश्वस्य कृत्स्नस्य भुवनस्य गोपाः पालकः स वेदान्त प्रसिद्धो धीरो मा मया वत्सांश्चारयता व्याकुलीकृतोऽपि अव्याकुलो कं शुद्धान्तःकरणमाविवेश ज्ञप्तिमात्र रूपो मह्यं स्वात्मज्ञानं दत्तवान् कृत्स्नं स्वलीलातात्पर्य्यं दर्शितवानित्यर्थः। अत्र द्वा सुपर्णेति मन्त्रस्य तात्पर्य्यं यास्कोक्तदिशा जीवेशौ पक्षिणौ देहवृत्ते "जीवेऽभिमानतः मुक्ते देहगतं दुःखं नान्यस्तत् स्थाप्य सङ्गतः" इति। एवं अध्यात्मं अधिदैवं च यत्रा सुपर्णा इत्यस्यापि तात्पर्य्यं तत एवावगन्तव्यम्। ननु कुत एवं द्वेधा व्याख्यानं सर्वेषां मन्त्राणां क्रियतः इत्याशङ्क्य स्कान्दे कैलाससंहितायां दहरविद्याख्यानप्रसङ्गे उक्तं "सैषा दहर विद्यात्र द्विधा ते परिकीर्त्तिता। अध्यात्मिकी भवेदेका तथान्या त्वाधिभौतिकी। तत्र त्वाध्यात्मिकी सर्वैर्दुष्करा न हि संशयः। आधिभौतिकसंज्ञातु तस्मान्मुक्त्यर्थमाचरेत्। सानुदभ्रसभामध्ये नृत्यमानस्य शूलिनः। दर्शनं नान्यदित्येतत् सम्यगत्र मयोदितम्॥" तत्रैव "दह्रं विपापं वरं वेश्मभूतमुमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्।" इत्यादीनि वाक्यानि उदाहृतानि यजुर्वेदवाक्यमेतत्। तथान्यत्र शाखान्तरेपि। "आलोच्यैतत् सर्वमेव प्रयत्नाद् व्याख्येयं स्यादस्मदुक्तानुसारात्" इति सर्वत्र व्याख्या द्वैविध्यस्यातिदेश उक्तः। तेन येऽध्यात्मं निरोध समाधावनधिकारिण स्तेषामाधिभौतिकी भगवल्लीला हृद्यारूढ़ा चित्समाधिफललाभाय भवति। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं श्रीमद्भागवते "आच्छिद्यकीर्त्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ। तमोनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः" इति। पुराणान्तरेष्वप्याधिभौतिकांश एव भूयसा ग्रन्थेनोपबृंहित इति स्पष्टं वेदेनोक्तं "विष्णोः कर्म्माणि पश्यतः" इत्युपपादितं चैतदुपोद्घात एवेतिदिक्॥४०॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्य्यादाधुरन्धरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्दसूनोनीलकण्ठस्य कृतौ सोद्धृत मन्त्रभागवत व्याख्यायां मन्त्ररहस्यप्रकाशिकायां वृन्दावनकाण्डो द्वितीयः॥२।

अनुवाद- कैसे ब्रह्मा का ज्ञान हुआ, इस मन्त्र में उसका वर्णन है, "यत्र" यहाँ पर "सुपर्णाः" प्रियतम गोपगण, "अमृतस्य भागं" अन्न का ग्रास ग्रहण करते "अनिमेषं" निमेष मात्र काल अतिक्रान्त न करके ही "विदथा" स्व स्व प्रतीति अथवा ज्ञान के द्वारा मनन करके "अभिश्वरन्ति" गोगण के अन्वेषणार्थ दूरस्थित श्रीकृष्ण को, कृष्ण! आओ, कृष्ण! आओ, कहकर आह्वान करने लगे। "अत्र" इस स्थान में जो "विश्वस्य भुवनस्य" निखिल भुवन के "इनः" स्वामी "गोपाः" पालक "सः" उस वेदान्त प्रसिद्ध "धीरः" प्राज्ञपरमेश्वर "मा" मेरे द्वारा "पा" वत्सधारण व्यापार में व्याकुलीकृत होकर भी अव्याकुल भाव से "कं" शुद्धान्तःकरण का "आविवेश" मेरे में प्रवेश कराए थे। अर्थात् उन्होंने मुझे स्वीय आत्मज्ञान प्रदान एवं स्वलीला तात्पर्य्य प्रदर्शन किया था। यहाँ "द्वासुपर्णा" इस मन्त्र का तात्पर्य्य सूचित हुआ है। यास्क कहते हैं जीव एवं ईश्वर दो पक्षी स्वरूप हैं। देहवृत्त जीव अभिमान मुक्त होने से देहगत दुःख नहीं रहता है। तब परमात्मा ईश्वर में दुःख का अस्तित्व एकान्त असङ्गत तथा असम्भव है। अतएव आलोच्य ऋक् में अध्यात्म एवं अधिदैव उभय तात्पर्य्य गृहीत होना ही समीचीन है। यदि कहो, कि मन्त्र की दो प्रकार व्याख्या की प्रसिद्धि कहाँ है? उत्तर- कैलास संहिता की दहर विद्या आख्यान में कथित है– दहर विद्या दो प्रकार है। प्रथमा आध्यात्मिकी, अपरा आधिभौतिकी। आध्यात्मिकी विद्या अति दुष्करा, अतएव मोक्ष के निमित्त आधिभौतिकी विद्या का आचरण करे। कैलास के सानुदेश में दर्भ सभा के मध्य में नृत्यमान महादेव का दर्शन ही मुक्ति है, अन्य कुछ नहीं। मैंने इसका सम्यकरूप में वर्णन किया। उसमें "दह्रं विपापं" इत्यादि जो वाक्य दृष्ट होता है, यजुर्वेद के वाक्य में उसका उदाहरण है। इस प्रकार अपर शाखान्तर में भी दृष्ट होता है। ये सब आलोचना करके प्रयत्नपूर्वक व्याख्या की गई है। इस प्रकार सब मन्त्र में ही द्विविध व्याख्या का अतिदेश अर्थात् आरोप किया गया है। अतएव जो लोक अध्यात्म विद्या का अधिकारी नहीं है, अर्थात् निरोध समाधि में अधिकारी नहीं है, उसके सम्बन्ध में ही आधिभौतिकी भगवल्लीला, हृदयाधिष्ठित चित् समाधि फल लाभ के निमित्त विहित है। इस अभिप्राय से ही श्रीमद्भागवत में उक्त है, "आच्छिद्य कीर्त्तिं सुश्लोकांवितत्य

ह्यञ्जसा नु कौ तमोनया तरिष्यन्ति इत्यगात् स्वं पदमीश्वरः॥ अर्थात् स्वीय पादपद्म के द्वारा पादपद्म स्मरणकारियों की गमन क्रिया निवृत्त करके एवं पृथिवीमय शोभन कीर्त्ति विस्तारपूर्वक शोभन कीर्त्तिरूप तरणी के द्वारा लोक सुख से अज्ञानमय समुद्र उत्तीर्ण होकर तदीय पद प्रान्त प्राप्त होगा, भविष्यत् जीव के लिए इस प्रकार करुणा की व्यवस्था कर परमेश्वर श्रीकृष्ण स्वधाम गमन किए थे। पुराणान्तर में इस आधिभौतिकांश अर्थात् भगवल्लीलांश का वर्णन विस्तृत रूप में है, अतः वेद स्पष्टतः घोषणा करते हैं कि- "विष्णोः कर्माणि पश्यतः" यह ही उपसंहार है, और यह ही उपोद्घात अर्थात् उपक्रम है॥४०॥

इति श्रीमद्मन्त्रभागवते श्री वृन्दावन काण्ड नाम द्वितीय काण्डानुवाद॥२॥

तृतीयः काण्डः

अक्रूर काण्डः

देवानां दूतः पुरुध प्रसूतो नाऽगान्नोवोचतु सर्वताता।
शृणोतृ नः पृथिवी द्यौरुतापः सूर्य्यो नक्षत्रैरुर्वन्तरिक्षम्॥१॥

ऋ. ३।३।२७/ ३।५४।१९

अथ अक्रूरकाण्ड आरभ्यते। तत्र "देवानां दूतः" इत्यादयः षड्विंशति-मन्त्रा प्रजापतिना दृष्टाः अक्रूरस्य व्रजे गमनं गोपीविलापं च प्रतिपादयन्ति, तान् व्याकुर्म्मः। तत्र चत्वारो मन्त्राः अक्रूरवाक्यरूपा इत्याह। देवानामिति। अहं देवानां कंसवागाद्यभिमानिनामग्न्यादीनां दूतोऽस्मि पुरुध बहुप्रकारेण प्रसूतः कंस बधार्थिभिस्तैः कृष्णमानेतुं व्रजं प्रति प्रेषितोऽस्मि। अतो नोऽस्मान् अनागान् निर्दोषान् प्रति सर्वताता विश्वस्य पिता श्रीकृष्णः वोचतु वचनेन सम्भावयतु। तातेति सुपो डादेशः। तदिदं नोस्माकं प्रार्थना वाक्यं पृथिवीद्यौरुत आपः सूर्य्यश्च नक्षत्रैः सह उरु महत् अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षस्थ देवतायूथमिन्द्रवाय्वादिकं च शृणोतु। एते देवा समानुकूला भवन्त्वित्यर्थः॥१॥

अनुवाद- अनन्तर अक्रूर काण्ड आरम्भ करते हैं। "देवानां दूतः" इत्त्यादि प्रजापति द्वारा दृष्ट षड्विंशति मन्त्र में अक्रूर का व्रजगमन एवं गोपी विलाप प्रतिपादित हुआ है। सम्प्रति उसकी व्याख्या करेंगे। तन्मध्य में चार मन्त्र में अक्रूर की उक्ति है। अक्रूर कहते हैं, मैं "देवानां" कंस की वागादि- अभिमानी अग्नि प्रभृति देवगण का "दूतः" दूत रूप में प्रेरित हूँ। "पुरुध" प्रकारान्तर में "प्रसूतः" कंस एवं वधार्थिगण द्वारा श्रीकृष्ण को ले आने के लिए व्रजधाम में मैं प्रेरित हूँ। अतएव "नः अनागान्" मादृश निर्दोष गणों के प्रति "सर्वताता" विश्वपिता कृष्ण "वोचतु" कृपा वाक्य कहें। "नः" यही मेरी प्रार्थना है। "पृथिवीद्यौः उव आपः सूर्य्यश्च नक्षत्रैः" पृथिवी, आकाश, जल, सूर्य और नक्षत्र समूह के साथ "उरुः अन्तरिक्षः" महान् अन्तरिक्ष अर्थात् अन्तरिक्षचारि इन्द्र वायु प्रभृति देवगण

इसे सुने। यह सब देवता मेरे अनुकूल होवें, यही तात्पर्य है॥१॥

शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इलया मदन्तः।
आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्मभद्रम्॥२॥

ऋ. ३।३।२७/ ३।५४।२०

शृण्वन्त्विति। नोऽस्माकं वाक्यं वृषणः मनोरथवर्षिणः पर्वतासः पर्वताः ध्रुवक्षेमासः नित्य कल्याणाः इलयान्नेन मदन्तः पुष्यन्त आदित्यैः सह अदितिश्च नः शृणोतु मरुतश्च शर्म्मभद्रम् अनिष्ठानानुबन्धि कल्याणं यच्छन्तु ददतु मह्यम्॥२॥

अनुवाद- "नः" हमारी यह प्रार्थना वाक्य "वृषणः" मनोरथवर्षी अर्थात् अभिमत फलवर्षी "पर्वतासः" पर्वत समूह "शृण्वन्तु" श्रवण करें। "ध्रुवक्षेमासः" नित्यकल्याणकामिगण "इलया" अन्नद्वारा "मदन्तः" हमारे पुष्टि वर्द्धन करें, "आदित्यैः" अपत्यभूत आदित्यगण के सहित "अदितिः" देवमाता अदिति "नः" हमारी यह स्तुति श्रवण करें। "मरुतः" मरुतगण "भद्रं" अविच्छेद कल्याण स्वरूप "शर्म" सुख "नः" हम सबको "यच्छन्तु" प्रदान करें॥२॥

सदा सुगः पितुमां अस्तु पन्था मध्वा देवा ओषधीः सम्पिपृक्त।
भगो मे अग्नेन सख्ये मृध्या उद्रायो अश्यां सदनं पुरुक्षोः॥३॥

ऋ. ३।३।२७/ ३।५४।२१

सदेति। सदा नित्यं सुगः शोभनगमनः पितुमान् अन्नवान् पन्थाः मार्गः अस्तु। मध्वा मधुना भो देवाः ओषधीर्मार्गस्थाः सम्पिपृक्त सञ्जो जयत। हे अग्ने मे मम भगः षड्विधमैश्वर्य्यमस्तु सख्ये परमात्मलाभाय न मृध्याः मृधं संग्रामं मा कुरु। संग्रामफलेन स्वर्गलाभेन तत्र कृष्णलाभे विघ्नं मा कुरु। संग्रामफलेन स्वर्गलाभेन तत्र कृष्णलाभे विघ्नं मा कुर्वित्यर्थः। पुरु वहु क्षुवतः विश्वसृजः कृष्णस्य सदनमश्यां प्राप्नुयाम्। कीदृशस्य। उद्राय: उत्कृष्ट सम्पदः॥३॥

अनुवाद- हमारे "पन्था" मार्ग अर्थात् गमन पथ "सदा सुगः" नित्य सुगम एवं "पितुमाम्" अन्नवान् अर्थात् अन्न विशिष्ट "अस्तु" होवे। "देवाः" हे

देवगण! "मध्वा" मधु द्वारा अथवा माधुर्य्ययुक्त उदक के द्वारा "ओषधि" मार्गस्थ औषधि समूह को "सम्पिपृक्त" अभिषिक्त करें। "अग्ने" हे अग्नि! "मे" मेरा "भग:" ऐश्वर्य्य, वीर्य्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य स्वरूप आप बनें। "सख्ये" परमात्म लाभ के निमित्त "न मृध्या:" संग्राम न करो, अर्थात् श्रीकृष्ण प्राप्ति के निमित्त बाधक न बनो, अर्थात् संग्राम के फल से स्वर्ग लाभ होता है, सुतरां उससे श्रीकृष्ण लाभ से वञ्चित होना पड़ता है, अतएव संग्राम उपस्थित कर श्रीकृष्ण प्राप्ति में विघ्न उपस्थित न करो। "पुरुक्षो:" विश्वस्रष्टा श्रीकृष्ण के "उदराय:" उत्कृष्ट सम्पदशाली "सदनं" व्रजधाम "अश्यां" गमन करेंगे ॥३ ॥

स्वदस्व हव्या समिषो दिदीह्यस्मद्र्यक् सम्मिमीहि श्रवांसि।
विश्वाँ अग्ने पृत्सु ताञ्जेषि शत्रुनहा विश्वा सुमना दीदिही नः ॥४॥

ऋ. ३।३।२७/ ३।५४।२२

एवं मनोरथं कुर्वन्नक्रूर: श्रीकृष्णं प्राप्याह। स्वदस्वेति। हे अग्ने: सर्वदेवतामुखभूताग्न्यभिमानिन् विष्णो! हव्या शुचीनि भक्तजनाहृतानि उपायनानि स्वदस्व आस्वादय इषोऽजन्नानि संदिदीहि सम्यक् दीपय बर्द्धयेत्यर्थ:। अस्मद्र्यक् अस्माभि: सह अञ्चति गच्छतीत्यस्मद्र्यक् अस्मत्पक्षीयो भूत्वेत्यर्थ:। श्रवांसि परेषां यशांसि सम्मिमीहि परिमापय स्वीयैर्यशोभिरतिक्रमस्वेत्यर्थ:। पृत्सु संग्रामेषु विश्वान् शत्रून् तान् प्रसिद्धान् कंसादीन् ज्येषि जयसि जयेति वा। न: अस्माकम्। क्रतून् संकल्पान् विश्वान् सर्वान् सुमना: प्रसन्न: सन् दिदीति प्रकाशय ॥४ ॥

अनुवाद- इस प्रकार अभिलाष करते करते अक्रूर श्रीकृष्ण दर्शन लाभ कर कहते हैं- "हे अग्ने!" हे सर्वदेवता के मुख स्वरूप अग्न्यभिमानी हे विष्णो! "हव्या" भक्त जनाहृत यह पवित्र उपहार समूह का "स्वदश्व" आस्वादन करें। हमारे "इष:" अन्न समूह को "सम्‌दिदीहि" सम्यक् रूप से दीप्तमान करें। "अस्मद्र्यक्" हमारे सहगामी अथवा अस्मत् पक्षीय होकर "श्रवांसि" अपर को यशोराशि का "सम्मिमीहि" परिमाप करें अर्थात् स्वीय यश को तुलना से उसको अतिक्रम करें। उसके पश्चात् "पुत्सु" संग्राम में "तान् विश्वन् शत्रून्" उस प्रसिद्ध कंसादि निखिल शत्रु को "ज्येषि" जय करें। अनन्तर "न:"

हमारे "विश्वा अहा" यागादि सङ्कल्प समूह को "सुमना" सुप्रसन्न होकर "दिदीहि" प्रकाशित करें ॥४॥

उषसः पूर्वा अधयद्व्यूषुर्महद्विजज्ञे अक्षरं पदे गोः।
व्रता देवानामुप नु प्रभूषन् महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥५॥

ऋ॰ ३।३।२८/ ३।५५।१

एवं अक्रूरेण प्रार्थनापूर्वकं कृष्णे व्रजात् मथुरां प्रतिनीयमाने तद्वियोगेन शोचन्त्यो गोपिकाः वियोगहेतुन् देवानधिक्षिपन्ति सुपूर्णेन सूक्तेन। प्रजापतेरार्षं वैश्वदेवं चैतत्सूक्तम्। उषस इति। अध अहो यत् यदा पूर्वा ऊषसः व्यूषुः इतः प्राक्तनाः ऊषः कालाः प्रादुर्बभूवुः तदा गोः व्रजाद्वनं प्रतियातुः प्राक् प्रतिष्ठन्त्याः पदे महदक्षरं परमं पदं विजज्ञे जनयामास। कः देवानामिन्द्रादीनां व्रता व्रतानि "एकशतं ह इव वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास" इत्यादि श्रुति प्रसिद्धानि आत्मज्ञानार्थं कृतानि ब्रह्मचर्य्याणि उप नु समीपे एव अविलम्वितमेव प्रभूषं प्रभूषयन् प्रकर्षेण भूषयन् अनेककोटिजन्माराधन प्राप्योपि अल्पेनैव कालेन दर्शनं दत्वा तेषां सुव्रतत्वमापादयन्नित्यर्थः। यो देवानां महता व्रतेन स्वमक्षरं पदं "तद्विष्णो परमं पदं" इति वेदान्त प्रसिद्धं दर्शयति, स महाकारुणिकतया तदेव नित्यं गोनुगामी सन् गोष्पदे निहितं दर्शयति। तादृशदेवमस्मत्तः उपनयतां देवानां महदेकमद्वितीयमसुरत्वम्। नृशंसमूर्द्धन्या देवा इत्यर्थः। अयं भावः। प्रणवादि प्रतीकं महतामपि चिरमुपासितं तुर्य्यप्रतिपत्तिहेतुः। नन्दकुमार पदं तु गोष्पदगततया ह्यत्यल्पकालं च सकृद् दृष्ट्या "ब्रह्म यदोङ्कारः" इति परापरब्रह्मत्वमेवं कृष्णपदे महदक्षरत्वं च। तत्प्रतिपत्त्युपायत्वादिति ध्येयम् ॥५॥

अनुवाद- इस प्रकार प्रार्थना करके अक्रूर जब श्रीकृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए उद्यत हुए तब श्रीकृष्ण विच्छेद से शोकार्त्ती गोपिकागण, विच्छेद के हेतुभूत देवगण के प्रति इस प्रकार आक्षेप प्रकट करने लगीं। यह सूक्त, आद्यन्त उस सुकरुण विलास कथा से पूर्ण है। इस सूक्त के ऋषि प्रजापति हैं, देवता वैश्वदेव हैं। आलोच्यऋक् में कोई गोपी इस भाव को अभिव्यक्त कर रही है। यथा "अधः" अहो! "यत् पूर्वा उषयः" इस समय के पहले जब

उषाकाल "व्युषु:" प्रादुर्भूत हुआ था, उस समय "गो:" व्रजधाम से वृन्दावन की ओर गमनशील धेनु के "पदे" पूर्व प्रतिष्ठित पद में जो "महदक्षरं" परमपद को "विजज्ञे" उत्पादन किए थे, एवं जो "देवानां" इन्द्रादि देवगण के "व्रता" आत्मज्ञान लाभ के निमित्त अनुष्ठेय ब्रह्मचर्य्यव्रत "उपनु" अविलम्बित रूप में "प्रभूषं" प्रकृष्ट रूप में विभूषित किए थे। इन्द्रादि देवगण के ब्रह्मचर्य्यव्रत का विवरण छान्दोग्योपनिषद् में है। यथा "एक शतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजायतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास" फलतः जो अनेक कोटि जन्म की आराधना के द्वारा लभ्य होते हैं, आप स्वल्पकाल में ही दर्शन देकर उन सबके सुव्रतत्व प्रतिपादन किए थे। एवं देवगण के अनुष्ठेय यह महाव्रत द्वारा स्वीय अक्षरपद अर्थात् "तद्विष्णो परमं पदं" इस वेदान्त प्रसिद्ध परम पद का प्रदर्शन करते हैं। आप ही महाकारुणिक रूप में उस उषा काल में नित्य गोगण के अनुगामी होकर वेदान्त प्रसिद्ध दुर्लभ ब्रह्मपद जिस वृन्दावन के गोष्पद में निहित है, उसका प्रदर्शन करते हैं। अहो! बड़े ही दुःख की बात है कि- आप उस परम देव को हमारे निकट से ले जा रहे हैं। अतएव यह देवगण का महान् अद्वितीय असुरत्व है, अर्थात् देवगण नृशंस शिरोमणि हैं। परमेश्वर के प्रतीक रूप में जिस प्रकार प्रणव सदा ही उपासित होते आ रहे हैं, उस प्रकार श्रीनन्दकुमार श्रीकृष्ण के पद गोष्पद में निहित होकर भी महदक्षर रूप में प्रतीत होते हैं। सुतरां वह साधक का साधनाङ्ग रूप में अवश्य ध्येय है॥५॥

मो षूणो अत्र जुहुरन्त देवा मापूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः।
पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥६॥

ऋ. ३।३।२८/ ३।५५।२

मोषूण इति। अत्र अस्मिन् गोष्पदस्थे महत्यक्षरे पदे विषये सुशोभनान् भक्तान् नः अस्मान् देवाः मा मैव जुहुरन्त बलात् मापहरन्तु। हृञ् हरण इत्यस्यरूपम्। तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युरिति देवानां तद्दर्शन विघ्नकारित्वं प्रसिद्धम्। तथाह। अग्नेः पूर्वे पदज्ञाः उक्तविधस्य पदस्य वेदितारः विद्यावंशप्रवर्त्तकास्तेऽपि विद्यागोपनपराः सन्तोऽत्र नोस्मान्। जुहुरतेत्यनुषङ्गः। कोऽसौ, यस्य पदमतिरहस्यमत आह। पुराण्योरिति अकारलोप आर्षः। ऋणो

रक्षणचक्रियोरितिवत्चक्रयोरित्यपेक्षिते। सद्मनोरुपाध्यो: कार्य्यकारणरूपयोरित्यर्थ:। अन्तर्मध्ये सन् केतुर्ज्ञापक:। यत् प्रसादात् उपाध्यो: स्वरूपं सिद्धयति स चिदात्मासावित्यर्थ:। महदित्यादि प्राग्वत् ॥६ ॥

अनुवाद- "अत्र" इस गोष्पदस्थित महदक्षरपद के विषय में "न:" हमारे समान सुशोभन भक्तगण को "देवा:" देवगण जैसे "मा जुहुरन्त" उस श्री चरण सान्निध्य से बलपूर्वक अपहरण न करें, क्योंकि मनुष्यगण जिस प्रकार उस परमपद को प्रिय रूप से जानते हैं, उस प्रकार वह पद देवगण का प्रिय नहीं है। वरं उसके दर्शन से देवगण का विघ्न ही होता है। अतएव "हे अग्नेय!" हे अग्ने: अधिष्ठातृदेव! "पूर्वे पदज्ञा:" उक्तविध पदवेत्ता-"पितर:" विद्यावंश प्रवर्त्तकगण जिस प्रकार विद्या को गोपन कर पूर्वोक्त विषय में हमारी हिंसा न करें। जिनका पद इस प्रकार अति रहस्यमय है, वह कौन है? अनन्तर उसका विवरण देते हैं। आप "पुराण्यो:" रक्षण चक्र के समान चक्रद्वय के "साद्मनो: उपाधि के अर्थात् कार्यकारण रूप उपाधिद्वय के "अन्त!" मध्य में "केतु:" ज्ञापक हैं। फलत: जिनके प्रसाद से कार्यकारण रूप उपाधिद्वय का स्वरूप सिद्ध होता है, उस चिदात्मा परम पुरुष को जब हमारे समीप से ले जा रहे हैं, तब यह "देवानां एकं महदसुरत्वं" देवगण का एक महासुरत्व समझना होगा ॥६ ॥

वि मे पुरुत्रापतयन्तिकामा: शम्यच्छादीद्ये पूर्व्याणि।
समिद्धं अग्नावृतभिद्वदेम महद् देवानामसुरत्वमेकम्॥७॥

ऋ. ३।३।२८/ ३।५५।३

काचिदाह। वि मे इति। मे मम कामा: भोगोपकरणसामग्र्य: विपतयन्ति विशेषेण पतनं पतन्तं कुर्वन्ति ते विपतयन्ति दृष्टमात्र एव शोकेन मूर्च्छां जनयन्तो भुवि पतनं कुर्वन्तीत्यर्थ:। अत: पूर्व्याणि प्राचीनानि शमी सुखानि। शमिति मान्तस्य क्लीवस्य बहुवचनम्। अझलन्तत्त्वात्र नुम्। अच्छा साक्षात्कृत्येति शेष:। दीद्ये दीप्त्या मूर्च्छिता सती कृष्णक्रीड़ावेशज्वरेण जीवामीत्यर्थ:। अत्र शपथपूर्वकं देवानुपालभन्ते सर्वा अपि समिद्धे प्रदीप्तेऽग्नौ साक्षिणि सति ऋतमित् सत्यमेव वदेम यद्देवानां महदेकमसुरत्वमिति ॥७ ॥

अनुवाद- अन्य एक गोपी कहती है, "मे पुरुता कामा:" मेरी बहुविध भोगोपकरण वस्तु "विपतयन्ति" विशेष रूप से विपर्य्यस्त हो गई है। फलत: श्रीकृष्ण के गमन को देखकर ही मूर्च्छा मुझे भूपातित कर रही है। अतएव "पूर्व्याणि समी" पूर्वकाल के सुख समूह "अच्छादीद्ये" का साक्षात् अनुभव कर मूर्च्छिता होकर भी कृष्ण क्रीड़ावेश ज्वर से ही मैं चेतनता लाभ कर रही हूँ। सम्प्रति हम सब "समिद्धे अग्नौ" प्रदीप्त अग्नि को साक्षी कर शपथ पूर्वक "ऋतं इत् वदेम" सत्य ही कह रही हूँ कि- "देवानां एकं महदसुरत्वं" यह देवगण का एक महान् असुरत्व है॥७॥

समानो राजा विभृत: पुरुत्रा शये शयासु प्रयुतो वनानु।
अन्या वत्सं भरति क्षेति माता महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥८॥

ऋ. ३।३।२८/ ३।५५।४

समान इति। समान एक एव सन् राजा गोपीगणस्य रञ्जक: पुरुत्रा अनेकधा विभृत: विविधेन रूपेण भृत: पोषितो गोवत् सरूपी सन्। कस्मिन्निमित्ते इदं बभूव। शये शेरतेऽस्मिन्निति शयो व्यामोह: तस्मिन् सति शयासु व्यामोह-वतीषु गोपीषु कृष्ण एवायं वत्स-वत्सपरूपेण अनुपेत्य नन्दयतीत्यजानन्तीषु प्रयुत: प्रकर्षेण स्नेहातिशयेन संलग्न:। कदाचन अन्योपरि आक्रम्य वत्सरूपेण गत: सन्नित्यर्थ:। ब्रह्मणानीतेषु वत्स-वत्सपेषु तन्मातुरानन्दयितुं स्वयं यथा तत्तद्रूपो बभूव एवमक्रूरेण आहूतोऽपि अस्मानानन्दयितुं द्वितीयं रूपं कुतो न धत्ते इत्यहो दौर्भाग्यमस्माकमिति भाव:। आस्तामस्मत्सदृशीनां दासीनां कथा, मातरमपि कथमसावुपेक्षत इत्याहु:। अन्येति। अन्या देवकी मथुरायां वत्समिव वत्सं स्वसखीपुत्रमेकं भरति पुष्णाति। माता यशोदा क्षेति वियोगदु:खेन क्षीयते। अतोऽयमेव निर्घृण: किमुत सहचराणां देवानां नैष्ठुर्य्यमित्यर्थ:॥८॥

अनुवाद- वह "समान:" एक अद्वितीय होकर भी "राजा" हमारे हृदय रञ्जक एवं "पुरुत्रा विभृत:" बहुरूप में एवं विविध रूप में परिपुष्ट गोवत्सादि रूप धारण किए थे। आप किस प्रयोजन से इस प्रकार बहुरूप धारण किए थे, वह भी कहते हैं। "स्वये स्वयासु" भगवन्मायाभिभूता गोपिकागण के मध्य में श्रीकृष्ण ही उनके वत्स एवं वत्सपाल गोपबालकों के अनुरूप रूप

एवं मूर्त्ति धारण कर अवस्थित हैं, एवं "वनानु" वन वन में विचरण पूर्वक उन सबका आनन्द विधान कर रहे हैं, यह वृत्तान्त गोपीगण जान न सकीं। अथच आप "प्रयुत:" प्रकृष्ट स्नेहातिशय्य वशत: उन सबके सहित संश्लिष्ट अथवा सम्मिलित थे। एक समय दूसरे के ऊपर आक्रमण करके ही श्रीकृष्ण इस प्रकार वत्स एवं वत्सपाल रूप धारण किए थे। एकदा ब्रह्मा ऐश्वर्य्यदृप्त होकर वृन्दावनस्थ वत्स एवं वत्सपगण को अपहरण करने से उन सबकी जननी को आनन्दित करने के निमित्त स्वयं जिस प्रकार उन सबके अनुरूप मूर्त्ति धारण किए थे, उस प्रकार अक्रूर के आह्वान से जब आप वृन्दावन को छोड़कर जा रहे हैं तब गोपीगण को आनन्दित करने के निमित्त क्यों द्वितीय रूप धारण नहीं कर रहे हैं। अहो यह हमारे परम दौर्भाग्य हैं। अस्तु, हमारी भांति दासीगण की बात? किन्तु कैसे जननी की उपेक्षा कर रहे हैं? कारण- "अन्या" देवकी मथुरा में "वत्सं भरति" निज सखी पुत्र को निज पुत्र मानकर आदर पूर्वक लालन पालन करेगी, और माता श्रीयशोदा "क्षति" उनका दर्शन न प्राप्त कर क्षिण्वा होगी। अतएव आप स्वयं ही जब उस प्रकार निर्दय निष्ठुर हैं, तब उनके सहचर देवगण की निष्ठुरता की कथा और क्या कहूँगी? सत्य ही यह "देवानां एकं महदसुरत्वं" देवगण का एक महा असुरत्व है॥८॥

आक्षित् पूर्वास्वपरा अनूरुत् सद्यो जातासु तरुणीष्वन्तः।
अन्तर्वतीः सुवते अप्रवीता महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥९॥

ऋ. ३।३।२८/ ३।५५।५

जारधवोऽप्ययमतिरूक्ष इत्याहु:। अक्षिदिति। पूर्वासु पूर्वं प्रतिगृहीतासु युवतिषु विषये आक्षित्। आसमन्तात् क्षिणोतीति सर्वप्रकारेण वियोगदु:खद इत्यर्थ:। अपरासु तरुणीषु निमित्तभूतासु अनूरुत् अनुरुध्यते इत्यनुरुत् तासामनुरोधं करोति ता: परित्यज्य अस्मान् प्रति नायातीत्यर्थ:। कीदृशीषु? सद्यो जातासु। कुब्जादयो हि जरठा: कंसदास्य: स्वामिद्रोहिण्य: कंसस्य अनुलेपनं किञ्चित् दत्तं सद्य स्तरुण्य: ऋज्व्यश्च जाता:। वयं त्वन्तर्वती:। अन्तर्नित्यमेनमेव ध्यायन्त्य: अवीता: अनन्यगामिन्य: लज्जा-यवनिकामुन्मुच्य स्वपतिपुत्रादीनविगनय्य प्रकाशमेव एनमभिसृता: स्वैकशरणा: तादृशीरस्मान् सुवते हिनस्ति। सुवते

इत्यात्मनेपदेन अस्मद्धिंसाजन्यं दोषं अङ्गीकुर्वाणोऽयं शरणागतोपेक्षादोषादपि न विभेतीति उक्तम्। तत्र हेतुभूतानां देवानामिति प्राग्वत्॥९॥

अनुवाद- प्रियतम श्रीकृष्ण जार होने पर भी जब हमारे हृदयस्वामी हैं, तब क्यों हमारे प्रति इस प्रकार रुक्ष व्यवहार कर रहे हैं? आप "पूर्वासु" इति पूर्व में जिन सबको प्रेयसी रूप में ग्रहण किए थे उन युवतीगण के सम्बन्ध में सम्प्रति "आक्षित्" सब प्रकार से दुर्वार वियोग प्रद हो रहे हैं। "अपरासु सद्यो जातासु तरुणीषु" अपर स्वामिद्रोहिणी जरा ग्रस्त कंसदासी कुब्जादि कंस का अनुलेपन किञ्चित् देकर ही तत्क्षणात् चार्वाङ्गी तरुणी हो गई थीं। उसकी भांति अपरा तरुणीगण जो "अनुरुत्" अनुरोध करेंगी, उसको परित्याग कर हमारे निकट तो और नहीं आयेंगे। किन्तु हम सब "अन्त: अन्तर्वर्त्ती "हृदय के मध्य में उनका ध्यान नित्य करती हूँ, एवं "अप्रवीत" अनन्यगामिनी, अर्थात् श्रीकृष्ण को छोड़कर अपर किसी को हम सब स्वामी नहीं जानतीं। हमने लज्जा यवनिका को उन्मोचन कर निजपति पुत्र की उपेक्षा कर प्रकाश्य भाव से उनकी अभिसारिणी बन गईं एवं एकमात्र निजजन जानकर उनकी शरण ली है। अथच आप ही हमें "सुवते" इस प्रकार दु:ख सागर में निमग्न कर रहे हैं। वरं आप हमारे प्रति हिंसा जनित अपराध को अङ्गीकार कर लेते हैं, अथच शरणागतजन की उपेक्षा जनित अपराध से डरते नहीं हैं। अतएव इससे सुस्पष्ट बोध होता है कि यह "देवानां एकं महदसुरत्वं" उनके निमित्तभूत देवगण का एक महा असुरत्व है॥९॥

शयु: परस्तादध नु द्विमाताऽबन्धनश्चरति वत्स एक:।
मित्रस्य ता वरुणस्य व्रतानि महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥१०॥

ऋ. ३।३।२९/ ३।५५।६

ननु उपमातरं यशोदां परित्यज्य साक्षाज्जननीमानन्दयतो मम को दोष इति "अन्या वत्सं भरति क्षेति माता" इत्ययुक्तमुक्तम्। तथा कौमारे अविचारेण चरतोऽपि प्रौढ़तायां वर्णाश्रमधर्मानुरोधात् पूर्वासु स्त्रीष्वरुचिरुचितैवेति "आक्षित् पूर्वासु" इत्युक्तोऽपि दोषो नास्तीत्याशङ्क्य तमेव दोषं द्रढ़यति शयुरिति। "द्विमाता" द्वयोमात्रोरपत्यभूतस्त्वं शयु: शेते एव न तु किञ्चित् चलति तादृश: उत्तानशायी त्वं परस्ताद्भुतो जात:। अध इति पक्षान्तरशङ्कायाम्। नु निश्चितं एक एव

वत्सो भवान् अबन्धनः स्नेहकारुण्यबन्धहीनश्चरति। अयं भावः। बलरामरूपेण सामिगर्भ एव मातृस्त्यक्तवान्, कृष्णरूपेण जातमात्र एव इति अत्यन्तं त्वं निरनुक्रोशोसीति। अहो आश्चर्य्यं ताः तानि सत्वं मित्रस्य वरुणस्य व्रतानि व्रतफलरूपोऽसि। ता इति विधेयापेक्षं बहुत्वम्। मतिर्य्यपि निर्दयत्वं प्राप्त देवाः व्रतानि कुर्वन्ति इति आश्चर्य्यमिति भावः॥१०॥

अनुवाद- यदि कहो कि उपमाता यशोदा को परित्याग कर साक्षात् जननी श्रीदेवकी को आनन्दित करने में दोष क्या है? सुतरां "अन्या वत्सं भरति क्षेति माता" यह जो कह रहा हूँ असङ्गत नहीं है। और भी कौमार काल में अविचार से जो आचरण किया है, वह इस वयः प्राप्ति होने पर अर्थात् प्रौढ़काल में वर्णाश्रम धर्म के अनुरोध से पूर्व गृहीता रमणीगण के प्रति अरुचि प्रकाश करना भी दोषकर नहीं है। सुतरां "आक्षित् पूर्वासु" इस उक्ति में भी कोई दोष नहीं है। इस प्रकार संशय कर पुनर्वार श्रीकृष्ण के प्रति दृढ़ रूप से दोषारोप करती हैं। "हे व्रजवल्लभ!" तुम "द्विमाता" दो माता के अपत्य होकर "शयुः" विराजित हो। किन्तु विचलित होने की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार उत्तानशायी होकर ही तुम "परन्तात्" परवशवर्त्ती होकर जन्म ग्रहण किए हो। "अध" पक्षान्तर में तुम हो "एकः नु वत्सः" एकमात्र पुत्र रूप में "अवन्धनश्चरति" स्नेहकारुण्य बन्धन से मुक्त होकर विचरण कर रहे हो। तुमने बलराम रूप में अर्द्ध गर्भ में ही जननी को छोड़ दिया है, श्रीकृष्ण रूप में जन्ममात्र से ही जननी को परित्याग किया है। अतएव तुम अत्यन्त निर्दय भाव प्रकट कर रहे हो। अथच आश्चर्य्य की बात है "ताः मित्रस्य वरुणस्य व्रतानि" उस मित्र वरुण के व्रतफल के रूप में विराज कर रहे हो। अहो! मां के प्रति निर्दय भाव प्रकाशकारी देवगण व्रताचरण कर रहे हैं, यह व्रत है? नहीं, यह "देवानां एकं महदसुरत्वं" देवगण का एक महान् असुरत्व है॥१०॥

द्विमाता होता विदथेषु संम्राटन्वग्रञ्चरति क्षेति बुध्नः।
प्ररण्यानि रण्यवाचो भरन्ते महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥११॥

ऋ. ३।३।२९/ ३।५५।७

द्विमातेति। पुनस्त्वं द्विमाता होता धर्मसम्प्रदाय प्रवर्त्तकः विदथेषु संग्रामेषु सम्राट् स्वतन्त्रः। ईदृशोऽपि अग्रं पश्चाद्भवनन्दादि अनुचरति भवान् बुध्नश्च

वसुदेवादि यादववंशमूलभूतः क्षेति क्षीयसे। एवं विपरीत कर्मणोऽपि भवतः रण्यानि रमणीयाणि कर्माणि रण्यवाचः रमणीयवाचः कवयो मन्त्रा वा भरते प्रकर्षेण संचिण्वति एतदेवाश्चर्य्यमित्यर्थः॥११॥

अनुवाद- फिर से गोपीगण कहती हैं, तुम "द्विमाता" उभय जननी के अपत्य हो, अथवा भूलोक, देवलोक, लोकद्वय के निर्माता हो, "होता" धर्म सम्प्रदाय प्रवर्त्तक, "विदथेषु सम्राट्" युद्ध में सम्पूर्ण स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन रूप में विराजित हो, तुम एतादृश होकर भी "अग्रं" अग्रभव श्रीनन्दादि के "अनुचरति" पश्चात् विचरण करते हो। तुम ही "बुध्नः" वसुदेवादि यादववंश के मूलभूत होकर भी "क्षेति" उस यदुवंश को ध्वंस किये हो। इस प्रकार विपरीत कर्मा होने पर भी तुम्हारे "धन्यानि" उस रमणीय कर्म समूह को "रण्यवाचः" रमणीय वाक्य कविगण अथवा मन्त्रसमूह "प्रभरन्ते" प्रकृष्ट रूप में चयन करते हैं, यह आश्चर्य की बात है। किन्तु सम्प्रति हमारे सम्बन्ध में तुम्हारे उस कर्माङ्गभूत "देवानां एकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महान् असुरत्व है॥११॥

शूरस्येव युध्यतो अन्तमस्य प्रतीचीनन्ददृशे विश्वमायत्।
अन्तर्मतिश्चरति निःषिधं गोर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥१२॥

ऋ. ३।३।२९/ ३।५५।८

ननु अशक्ततयाहं बाल्ये मातापित्रोः सेवां कर्त्तुं सन्निधौ वा स्थातुं न समर्थोऽभूवम्। इदानीं तु तथा कर्त्तुमनुचितमित्याशङ्क्य बाल्येऽपि महान्ति कर्माणि कुर्वतस्तव किमप्यशक्यम् नासीदित्याहुः। शूरस्येवेत्यादिना। अमि गत्यादिकर्मणि तम्यन्ति ग्लायन्तीत्यन्तमः उत्तानशायी। अमगत्यादिषु एतत् पूर्वकात्तमुग्लानौ इत्यतः पचाद्यच्। तस्य शिशोरपि तव अन्तर्मुखमध्ये विश्वं ददृशे। दृशं प्रतीचीनं प्रतीचि भवं त्वत् शरीरे एव स्थितं न तु दर्पण इव परावृत्त नयनेन बर्हिष्ठं सद्दृष्टमित्यर्थः। आयत् आभिमुख्येन प्रविशतीत्यायत्। त्वया स्वात्मन्युपसंहृतम्। एतेन जगदुत्पत्तिलयाधिष्ठानत्वं स्वतन्त्रत्वं च बाल्येऽपि आसीत् इत्युक्तम्। कीदृशस्य शूरस्य ? रामादेरिव युद्धयतः प्रहरतः पूतनादीन्निघ्नत इत्यर्थः। यतस्त्वमेवम्बिधो हतस्त्वयि गोर्मतिः निष्विधं यथा स्यात् तथा चरति।

गोस्तत्त्वमस्यादिवाचः सम्बन्धिनीमतिः ब्रह्मविद्याख्या चेतो वृत्तिः निषेधतिर्गत्यर्थः। अवगतिरहितं यथा स्यात्तथा प्रचरन्ति। वृत्तिविषत्वेप्येवम्विध इति शृङ्गग्राहिकया गृहीतुं न शक्यते। फलात्मत्वेन तद्व्याप्यत्वाभावादित्यर्थः। त्वं त्वां परमपुरुषार्थभूतमपि अपहरतां देवनामिति। प्राग्वत्॥१२॥

अनुवाद- यदि कहो कि बाल्यकाल में अशक्तता हेतु मातापिता की सेवा करने अथवा उनके सान्निध्य में अवस्थान करने में असमर्थ रहा। किन्तु सम्प्रति उस प्रकार आचरण करना उचित नहीं है। इस प्रकार आशङ्का कर कहते हैं, बाल्यकाल में भी महान् कार्य समूह सम्पादन किए हैं, अतएव बाल्यकाल में असाध्य कुछ भी नहीं था, जब "अन्तमस्य" गमनादि कर्म में ग्लानियुक्त होकर अर्थात् गमनागमन में अशक्त उत्तानशायी थे, तव तुम्हारे मुख विवर में "विश्वं ददृशे" निखिल विश्व परिदृष्ट हुए थे। वह दर्शन "प्रतीचीनं" प्रतीचीभव अर्थात् पश्चिमदिग्वर्त्ती चन्द्र के समान तुम्हारे शरीर में निखिल विश्व दृष्ट हुए थे। दर्पण में प्रतिविम्ब की भांति नहीं है। फलतः उन्मुक्त नयन से प्रोज्ज्वल अथच सुन्दर रूप से ही परिदृष्ट हुए थे। अनन्त विश्व ब्रह्माण्ड "आयत्" तुम्हारे ही अभिमुख में आकर तुम्हारे में ही प्रविष्ट हो रहे हैं, और तुम स्वीय आत्मा में उस अनन्त विश्व का उपसंहार कर रहे हो, अतएव बाल्यकाल में भी तुम्हारे जगत् कर्त्तृत्व सृष्टि स्थितिलय कर्त्तृत्व एवं स्वतन्त्रत्व विद्यमान था। तुम ही "युद्ध्यतः शूरस्य इव" युद्धशील महाशूर श्रीबलरामादि की भाँति पूतना प्रभृति का संहार किए हो, तुम उस प्रकार अनन्त शक्ति सम्पन्न हो, अतः तुम्हारे सम्बन्ध में "गोर्मतिः" तत्त्वमस्यादि वाक्य सम्बन्धिनी मति अर्थात् ब्रह्म विद्याख्या चित्तवृत्ति "निःषिधः" अविज्ञात रूप में अर्थात् अवगति रहित रूप में "चरति" प्रचार करती रहती हैं। फलतः वृत्ति के विषय रूप में आप इतना दुर्ज्ञेय हैं, शृङ्गग्राहिका न्याय के द्वारा भी आपको आयत्त नहीं किया जा सकता है, किन्तु दुर्दान्त वृषभ के एक शृङ्ग पकड़ लेने पर अपर शृङ्ग का ग्रहण अनायास होता है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी दुरायत्त विषय के एकदेश आयत्त करने पर अपर देश भी आयत्त होता है, ज्ञान का विषय यह है, किन्तु फलात्म रूप में उनका व्याप्यत्व न होने से उक्त नियमानुसार एक देश भी आयत्ताधीन नहीं होता है। उस परमपरमार्थभूत तुम्हें जब अपहरण कर ले जा

रहे हैं, तब वह "देवानां एकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महा असुरत्व है॥१२॥

निवेवेति पलितो दूत आस्वन्तर्महांश्चरति रोचनेन।
वपुंषि विभ्रदभि नो विचष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥१३॥

ऋ. ३।३।२९/ ३।५५।९

एवं विलप्यापि अक्रूरोपालम्भपूर्वकं स्वस्य कृतार्थत्वमपि कुर्वन्ति। निवेवेतीति। पलितः जरठोप्ययुक्तकारीत्याक्षेपः दूतो क्रूरो निवेवेति भृशं वेगेन गच्छतीत्यर्थः। आस्विति। गम्यमानदिक्प्रदर्शनम्। एवमपि यं नयति सोऽस्माकमन्तश्चरति। रोचनेन स्वरूपेण महान् सर्वोत्कृष्टः। अतएव वपुंषि वत्स-वत्सपरूपाणि विभ्रदयमेव नोऽस्मान् कर्त्रादिधर्मकान् ऋग्भिः अभिविचष्टे पश्यति प्रकाशयति। अतो यद्यप्येवं कृतार्थाः स्मः। तथापि अस्मदीयं दृष्टसुखम् अपहरतां देवानामित्यादि प्राग्वत्॥१३॥

अनुवाद- गोपाङ्गनागण श्रीकृष्ण के उद्देश्य में इस प्रकार विलाप करके पश्चात् अक्रूर को तिरस्कार कर अपने को कृतार्थ मान रही हैं। यह आक्षेप का विषय है। वह "दूतः" कंस प्रेरित अक्रूर "पलितः" पक्वकेश वृद्ध होकर भी अन्याय कार्य कर रहे हैं। आप प्रियतम श्रीकृष्ण को लेकर "निवेषेति" अतिशय वेग से गमन कर रहे हैं "आसु" (गम्यमान दिक् को दिखाकर) उस दिक् में जिनको ले जा रहे हैं, वह हमारे "अन्तश्चरति" हृदय के मध्य में सर्वदा विराजित हैं, एवं "रोचनेन महान्" स्वीय रूपमाधुर्य्य में सर्वोत्कृष्ट हैं। "वपूँषि विभ्रत्" आप ही वत्स एवं वत्सपालादि के अनुरूप देह धारण किए थे, एवं अब 'नः' हम सबको "अभिविचष्टे" कृपादृष्टि के द्वारा सर्वतो भाव से दर्शन कर रहे हैं। इससे यद्यपि हम सब कृतार्थ हो गईं, तथापि हमारे दृष्ट सुखापहरण कारी "देवानां एकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महाअसुरत्व है॥१३॥

विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः प्रिया धामान्यमृता दधानः।
अग्निष्टा विश्वा भुवनानि वेद महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥१४॥

ऋ. ३।३।२९/ ३।५५।१०

तदेव दृश्यं सुखमुपवर्णयन्ति विष्णुरिति। विष्णुः कृष्णरूपी गोपालकात्मकः परमं पावनं पाथः यामुनं जलं कालीयविषदूषितं पाति कालीयनिरसनेन रक्षति निर्दोषं करोति। इदं च ऐहिक समस्तदुःखहेतूपमर्द्दोप-लक्षणम्। प्रिया प्रियाणि धामानि रम्याणि स्थानानि अमृता अमृतानि ब्रह्मलोकादीनि दधानः स्वशरीरे एव धत्ते इति दधानश्चतुर्द्दशभुवनानामाश्रय इत्यर्थः। अग्निष्टाविश्वाभुवनानि वेद तानि सर्वाणि धामानि अग्निरस्माकम्। विदज्ञाने इति धातोर्वेद। अतोऽनेकब्रह्माण्डबीजगर्भमहाफलस्थानीयं समस्तं दृष्ट-दुःखनिवारणं भवन्तमपहरतां देवानामिति। प्राग्वत्। अत्र यो मां पश्यति सर्वत्रेत्यादि शास्त्रोक्तं भिन्नेषु अभेदानुसन्धानं कैवलस्य व्यवहितम्। भवस्य प्रत्यक्षत्वादभेदस्य चाहार्य्यत्वात्। अभिन्ने तु भेदकल्पनं कैवलस्याभेद प्रत्ययाधीनस्य सन्निहिततरत्वं संसारहेतोर्भेदज्ञानस्य अस्मिन् विप्रकर्षोस्तीति। एतदेव "सर्वं च मयि पश्यति" इति शास्त्रप्रसिद्धमस्माभिः श्रूयते इति भावः॥१४॥

अनुवाद- अनन्तर गोपीगण श्रीकृष्ण के उस मनोहर दृश्य का वर्णन परम सुख से करने लगीं। "गोपा विष्णुः" गोपाल वेशधारी भगवान् श्रीकृष्ण "परमंपाथः" परमपवित्र यमुना जल, कालीय विष दूषित होने से "पाति" कालीय नाग को निरस्त कर उसकी पवित्रता की रक्षा किए थे। अर्थात् यमुना के जल को निर्दोष किए थे। आप हमारे समस्त ऐहिक दुःख के कारण को विनष्ट किये थे यह उपलक्षण परिव्यक्त हुआ। आप "प्रियाणि" प्रियतम रम्यस्थान समूह व "अमृता" ब्रह्मलोकादि "दधानः" स्वीय देह में धारण करते हैं, अर्थात् चतुर्दश भुवन का आप ही आश्रय हैं। "विश्वा भुवनानि" उस निखिल विश्व, उस निखिल रम्यधाम सम्प्रति हमारे पक्ष में "अग्निष्ठा" महातापप्रद अग्नि स्वरूप "वेद" जानना। अतएव अनन्त ब्रह्माण्ड बीजगर्भ महाकाल स्वरूप व समस्त दृष्ट दुःख निवारण, आपको जो लोक अपहरण कर ले जा रहे हैं वे "देवानां एकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महान् असुरत्व है। इस स्थल में "यो मां पश्यति सर्वत्रेत्यादि" इस भगवदुक्ति के अनुसार भिन्न वस्तु में अभेदानुसन्धान मोक्ष का अन्तराय है। कारण जगत् प्रत्यक्ष है, उसमें अभेद का आरोप सिद्ध होता है, सुतरां अभिन्न वस्तु में भेद कल्पना से ही अभेद प्रत्याधीन मोक्ष का सन्निकर्ष सिद्ध होता है, एवं इससे ही संसार हेतुभूत भेद ज्ञान का विप्रकर्ष

होता है, अतएव "सर्वं च मयि पश्यति" इस शास्त्र प्रसिद्ध वाक्य का श्रवण हम सबने किया है॥१४॥

नाना चक्राते यम्या वपुंषि तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत्।
श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥१५॥

ऋ. ३।३।३०/ ३।५५।११

अहो महाश्चर्य्यम्। गच्छतोः रामकृष्णयोः मातृभ्यामपि निवारणं न कृतमित्याहुः। नानेति। श्यावि कृष्णवर्णा यशोदा अरुषी अरुणा रोहिणी। एते उभे स्वसारौ भगिन्यावपि यतः यम्या स्वेनानयितुं योग्ये दामबन्धनवपुषी रामकृष्णशरीरे। बहुत्वं छान्दसम्। नाना पृथक् चक्राते विक्षिप्तवत्यौ। अन्यतरापि स्वं पुत्रमहं न प्रेषयामीति असहनं करोति चेदुभयोरप्यत्रावस्थानं भवेदिति भावः। तयोः स्वस्तोर्मध्ये एकस्यै यशोदायै अन्यत् एकं कृष्णं वपुः रोचते। परिशेषात् अन्यदेकं वपुः अकृष्णं गौरं एकस्यै रोहिण्यै रोचते। अतस्तयोरपि स्नेहविच्छेदं कारयतां देवानाम् महदेकमसुरत्वम्॥१५॥

अनुवाद- अहो बड़ा ही आश्चर्य है। राम कृष्ण मथुरा गमन कर रहे हैं, अथच उनकी जननी निवारण नहीं कर रही हैं। "श्यावी" श्यामाङ्गी यशोदा, एवं "अरुषी" अरुणवयी रोहिणी, दोनों ही "स्वसारौ" परस्पर भगिनी स्वरूपा हैं। "यत्" कारण, "यम्या" उभय ही "वपुंषि" दामबन्धनाङ्ग रामकृष्णद्वय को प्रत्यावर्त्तन कराने में समर्थ हैं। एवं तज्जन्य उभय ही "नाशचक्राते" पृथक् पृथक् विविध कौशल जाल भी बिछा सकती हैं। और भी उभय के मध्य में यदि एक मन में करती है कि मैं निज पुत्र को भेजूँगी नहीं, यहाँ पर उस प्रकार धारणा की सम्भावना नहीं है, कारण वे उभय ही एकत्र अवस्थान कर रही हैं। "तयो" उन उभय जननी के मध्य में एक के अर्थात् श्रीयशोदा को "कृष्णं रोचते" श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण रुचिकर हैं, एवं "अन्यत्" श्रीरोहिणी के निमित्त एक अकृष्ण अर्थात् गौरदेह श्री बलराम रुचिकर हैं। अतएव उभय जननी के स्नेह विच्छेद संघटनकारी "देवानां महदेकमसुरत्वं" देवगण का यह एक महान् असुरत्व है॥१५॥

माता च यत्र दुहिता च धेनु सर्वदुघे धापयेते समीची।
ऋतस्य ते सदसीले अन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥१६॥

ऋ. ३।३।३०/ ३।५५।१२

मातेति। यत्र यस्मिन् वपुर्द्वये सन्निहिते माता च गौ: दुहिता च गौ:। ते उभे अपि धेनू दोग्ध्र्यावेव भवत:, न तु मातुर्जरार्त्तत्वमदोग्ध्रीत्वं वा आयातीत्यर्थ:। सर्वदुघे क्षीरदौग्ध्र्यौ स्ववरिति म्लेच्छेषु क्षीरनामेति प्राञ्च:। सगर्भाया नामेति तु प्रसिद्धं। तेष्वेव तेन गर्भधारणदशायामपि क्षीरप्रदेश इति गम्यते। धापयेते लोकान् वत्सांश्च पाययत:। समीची दोग्धृणामनुकूले। तत्र माता दुहितेति च जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। ते उभे अपि ऋतस्य वेदस्य सदसीव सदसि अधिष्ठाने श्रीकृष्णाख्ये ब्रह्मणि अन्त:स्थित इति शेष:। अतएव ईले स्तौमि। अयं भाव:— कृष्णाभिध्यानानां गवादीनां जरादिकं नासीत्। अत:परं तद्वियोगेन तत्तासां दुर्वारमिति। व्रजस्य उत्कर्षमसहमानानां गोद्रुहां महद्देवानामिति। प्राग्वत्॥१६॥

अनुवाद- "यत्र" जिस वपुर्द्वय के सन्निहित अर्थात् श्रीराम कृष्ण के सन्निहित "माता च दुहिता च" गो माता एवं गोदुहिता समूह थीं, उक्त रामकृष्ण उभय ही उक्त धेनु समूह के दोग्ध्रा अर्थात् दोहनकारी हैं, जननी जराग्रस्ता—दुग्ध दोहन में अशक्त होने से वे दोनों दोहनकारी थे, ऐसी बात नहीं है, कारण उभय ही "सर्वदुधे" क्षीर दोहन कारिणी हैं। "सव:" शब्द क्षीरवाची है, सम्प्रदायानुसार अर्थ होता है। उस गोमाता एवं गो दुहिता समस्त सभी अवस्था में भी दुग्धपान करती रहती हैं, एवं "धापयेते" वत्सगण को लोकगण को दुग्धपान करवाती रहती हैं। सुतरां वे सब "समीची" दोहनकारी के अनुकूल हैं। इस स्थल में माता दुहिता शब्द जात्यभिप्राय से एक वचनान्त है, "ते" वे उभय ही "ऋतस्य पदसि" वेद का अधिष्ठान अर्थात् श्रीकृष्णाख्य परम ब्रह्म में अन्त: निहित हैं। अतएव "ईले" उनकी स्तुति करती हूँ। श्रीकृष्ण का अभिध्यान करने से व्रजस्थ गवादि में जरामरणादि विद्यमान नहीं है। सम्प्रति उन श्रीकृष्ण के वियोग से व्रजस्थ गवादि के जरामरणादि अवश्यम्भावी है। व्रजके उत्कर्ष जिनका असहनीय है, वह गोद्रोही "देवानां एकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महा असुरत्व है॥१६॥

अन्यस्या वत्सं रिहती मिमाय कया भुवा निदधे धेनुरूधः।
ऋतस्य सा पयसापिन्वतेला महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥१७॥

ऋ. ३।३।३०/ ३।५५।१३

अन्यस्या इति। अन्यस्याः धेनोः वत्सं रिहती लिहन्ती का धेनुः ऊधः क्षीराशयं निदध प्रस्रविणं धृतवती। न कापीत्यर्थः। अपि च कया भुवा मिमाय मितवती स्वमूधः भूपर्य्यन्तं कं देशं निनाय। क्वचिदपि देशे काले वा इदं न जातामित्यर्थः। व्रजे तु वत्सेषु वत्सपेषु च ब्रह्मणा नीतेषु मायायाः वत्सं श्रीकृष्णं लिहन्ती सर्वापि धेनुः भुवा संयुतम् ऊधो निदधे। वात्सल्यातिशयादिति भवः। सा इला ऊधस्वती धेनुः ऋतस्य सत्यस्य सम्बन्धिनां पयसा साक्षात् ब्रह्मरसानन्दात्मकेन क्षीरेण अपिन्वत अतर्पयत्। व्रजस्थं ब्रह्मास्मत्तोपनयतां देवानां महदेकमसुरत्वम्॥१७॥

अनुवाद- कोई धेनु "अन्यस्याः वत्सं रिहन्ती" अपर धेनु के वत्स को जिह्वा के द्वारा लेहन करती है, एवं कोई "धेनु" इवा "ऊधः" दुग्धाशयको प्रस्रवण के समान "निदधे" धारण करती है? कोई धेनु ही नहीं। अपि च "कया भुवा मिमाय" किस देश की धेनु स्वीय ऊधः थन को भू परिमित करती रहती है। अर्थात् किस देश के धेनु का दुग्धाशय भूमि पर्य्यन्त को स्पर्श करता है? किसी देश में किसी काल में ऐसा नहीं हुआ है। ब्रह्मा व्रज धाम में वत्स एवं वत्स पालगण को अपहरण कर लेने से समस्त धेनु ही माया वत्सरूपी श्रीकृष्ण को निज निज वत्स जानकर लेहन करने लगीं, एवं उस समय में वात्सल्यातिशय्य वशतः वे सब भूतल चुम्बी ऊधः धारण किए थीं, "सा इला" उस अपूर्व ऊधः विशिष्ट धेनुसमूह "ऋतस्य पयसा" सत्य सम्बन्धि साक्षात् ब्रह्मरसा नन्दात्मक दुग्ध द्वारा "अपिन्वत" सबको तृप्त करती थीं। उस व्रजस्थ परम ब्रह्म को जो सब व्यक्ति हमारे समीप से ले जा रहे हैं, वे सब "देवानामेकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महा असुरत्व है॥१७॥

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपुंष्युर्ध्वा तस्थौ त्र्विं रेरिहाणा।
ऋतस्य सद्म विचरामि विद्वान् महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥१८॥

ऋ. ३।३।३०/ ३।५५।१४

पद्येति। पद्या या तु अभिसारिणीभिरभिसर्त्तु योग्या ते तव मूर्त्तिरूर्ध्वा सर्वसंसारबहिर्भूतापि परजनार्थं पुरुरूपा बहुरूपाणि धत्ते इत्यर्थः। ताभ्योन्या मूर्त्तिरूर्ध्वा अभिसारिणीभिरस्पृष्टा मध्ये तस्थौ स्थिता। रासक्रीड़ाप्रसङ्गे इत्यर्थः। कीदृशानि वपुंषि? त्र्यविंरेरिहाणा त्रीन् प्रदेशान् अवति प्रकाशयतीति त्र्यविं पार्श्वद्वयं पुरोभागश्चेति त्रयं प्रकाशयन्ती दृष्टिः तां रेरिहाणा लेलिहाना। त्रिष्वपि प्रदेशेषु स्थित्वा ग्रसमानेत्यर्थः। रासमण्डले हि एकैकस्याः गोपिकायाः पार्श्वद्वये कृष्णद्वयमेका च मध्ये सर्वासां साधारणेति प्रदेशत्रयस्था कृष्णमूर्त्तेः प्रदेशत्रयगामिनी दृष्टिः सर्वात्मना ग्रसते ततोऽन्यदगोचरं किमपि न भवतीत्यर्थः। यत एवं रूपाणि वस्ते अतः ऋतस्य वेदस्य यज्ञादेर्वा सद्म अधिष्ठानं समर्पण-स्थानं वा परं ब्रह्माहं विद्वान् विचरामि, विशेषेण जानामि। विद्वानिति कृष्णतादात्म्याभिमानात् स्त्रीभावं विस्मृतवती गोपी आत्मानं पुंलिङ्गेन विशिनष्टि। यद्यप्येवम्। तथापि देवानां महदसुरत्वम्। अस्मत् उत्कर्षासहत्वात्॥१८॥

अनुवाद- "पद्या" जो अभिसारिणी व्रजरामागण के द्वारा अभिसार योग्या है, वह "ते" तुम्हारी श्रीमूर्त्ति "ऊर्द्धा" सर्व संसार बहिर्भूता होकर भी साधु भक्तजन के निमित्त "पुरुरूपा" बहुविध रूप धारण करती हैं। रासमण्डल में बहुमूर्त्ति प्रकाश के मध्य में अपर एक मूर्त्ति उस अभिसारिणीगण की अस्पृष्टा रूप में मध्यस्थल में "तस्यौ" अवस्थित थी। उस "वपुंसि" तुम्हारी श्री मूर्त्ति "त्रविं रेरिहाना" पार्श्वद्वय व पुरोभाग, इस प्रदेशत्रय को प्रकाश कर दृष्टि द्वारा लेहन करती थीं। फलतः हम सब तुम्हारी अपाङ्ग दृष्टि के द्वारा प्रदेशत्रय से आक्रान्त हो गईं थीं। रासमण्डल में एक एक गोपिका के पार्श्वद्वय में श्रीकृष्ण की दो मूर्त्ति, एवं मध्यस्थल में सर्व साधारण रूप में एक मूर्त्ति, ये प्रदेशत्रय स्थिता श्रीकृष्ण प्रदेश त्रयगामिनी दृष्टि सबकी आत्मा को ग्रास कर ली थी; सुतरां उस समय अपर कुछ भी दिखते नहीं थे। कारण तुम इस प्रकार से स्वरूप को "वस्ते" आच्छादन करते रहते हो, अतएव 'ऋतस्य' वेद का अथवा यज्ञादि का "सम" अधिष्ठान अथवा समर्पण स्थान स्वरूप परमब्रह्म रूप में तुम्हें मैं "विद्वान्" ज्ञानवती "विचरामि" विशेष रूप से जानती हूँ। यहाँ कृष्ण तादात्म्य अभिमानवशतः स्त्रीभाव विस्मृत होकर यह गोपी अपने को

पुरुषभाव से "विद्वान्" कहकर विशेषित करती थी। यद्यपि हम सब कृतार्थ हैं, तथापि "देवानामेक महदसुरत्वं" देवगणों का यह एक महान् असुरत्व है, कारण हमारे उत्कर्ष उन सबके लिए एकान्त असहनीय है॥१८॥

पदे इव निहिते दस्मे अन्तस्तयोरन्यद्गुह्यमाविरन्यत्।
सध्रीचीना पथ्या सा विषुची महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥१९॥

ऋ. ३।३।३०/ ३।५५।१५

पदे इवेति। अस्यामेव रासक्रीड़ायां सर्वाः गोपीः परित्यज्य एकां गृहीत्वा किञ्चिद्दूरं गतवान् भगवान् तां च श्रान्तामालक्ष्य स्कन्धे समारोपितवान्। ततः तामपि गर्वितां परित्यज्य गतवानिति स्मर्य्यते। तत्रेतरां भगवन्तं मृगयन्त्यो वदन्ति। पदे इवेति। पदे गमनसूचके पांसुषुस्पष्टीभूते द्विजान् द्वयोर्गमके। दृश्येते इति शेषः। कीदृशी ते। दस्मे क्रीड़ागृहरूपे वने अन्तःमार्गमध्ये निहिते स्थापिते। तयोर्द्वयोः पदयोर्मध्ये अन्यदेकं पदं गुह्यं गुप्तं जातम्। तेनानुमीयते— यामसौ नीतवान् तामसौ स्कन्धे आरोपितवान् इति। अतएववान्यपदं आविः सुस्पष्टम्। भारवत्त्वात्। अतः सा धन्या या कृष्णसध्रीचीना सहगामिनी, यतः पथ्या पथोनपेता कृष्णमार्गादस्मद्वदाप भ्रष्टा एवं भूतापि सा कृष्णेन त्यक्ता सती विषुची विष्वक् इतस्ततोऽञ्चति कृष्णमन्वेष्टुं गच्छतीति विषूची। दृश्यत इति शेषः। अतः एकस्या अप्युत्कर्षमसहमानानां देवानामिति प्राग्वत्॥१९॥

अनुवाद- इस रासक्रीड़ा में सब गोपी को परित्याग कर एक प्रधाना गोपी को लेकर भगवान् श्रीकृष्ण कुछ दूर जाते-जाते उनको परिश्रान्त देखकर स्वीय स्कन्ध में उठा लिये थे। उसके बाद उनको गर्विता देखकर श्रीकृष्ण उनको छोड़कर अदृश्य हो गए। अन्यान्य गोपीगण उनको अन्वेषण करते-करते इस प्रकार कहने लगीं, हमारे हृदय वल्लभ प्रियतमा के साथ गमन किए हैं, उन दोनों के "पदे" पदचिह्न स्पष्ट ही परिदृष्ट हो रहे हैं। वह "दस्मे अन्तः" क्रीड़ागृह रूप में वन पथ के मध्य में "निहिते" निहित हैं। यहाँ पर "तयोः" उभय के मध्य में "अन्यत्" एक का पदाङ्क "गुह्यं" अदृश्य है। इससे बोध होता है, कि जिसको आप ले जा रहे थे, उसे आपने निश्चय ही कंधे में चढ़ा लिए होंगे। "अन्यत्" अन्य पदाङ्क "आविः" भार वहन के निमित्त सुस्पष्ट है।

अतएव "सा" गोपिका ही धन्या है। जो "सध्रीचीना" श्रीकृष्ण की सहगामिनी है, किन्तु वह "पथ्या" कृष्ण मार्ग से अपभ्रष्टा है, इस श्रीकृष्ण के द्वारा परित्यक्ता होकर हमारी भाँति कृष्णान्वेषण कर रही है। अतएव एक व्यक्ति का उत्कर्ष जिसके लिए असहनीय है, वह "देवानां एकं महदसुरत्वम्" देवतागण के यह एक महान् असुरत्व है॥१९॥

आधेनवो धुनयनन्तामशिश्वीः सर्वदुघाः शशया अप्रदुग्धाः।
नव्या नव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥२०॥

ऋ. ३।३।३१/ ३।५५।१६

आधेनव इति। येषां देवानामस्मासु महदेकमसुरत्वं तान् धेनवः आधुनयन तां आ समन्तात् कम्पयन्ते। कृष्णवियोगातुराः धेनुर्दृष्ट्वापि तेषां कम्पोऽभूत्। एता उदीक्ष्य वा ते दयां कुर्व्वत्विति भावः। कीदृश्यः। अशिश्वीः आवालाः। सर्वदुघा इति। पूर्ववत्। शशयाः। शे देवानां कल्याणे निमित्ते शेरते ताः शशयाः। दशविधहविः प्रदानेन देवास्तर्पयन्त्य इत्यर्थः। नव्या नव्याः। स्तुत्यास्तुत्याः युवतयश्च भवन्तीर्भवत्यः अत्यन्त गुणवत्यः। उपकाराच्च धेनूर्द्विषन्तो देवाः कृतघ्नत्वभयाद्वा उद्विजतामित्यर्थः॥२०॥

अनुवाद- जो देवगण हमारे प्रति महा असुरत्व प्रकाश कर रहे हैं उनको ही "धेनवः" धेनु समूह "आधुनयन्तां" सम्यक् रूप से कम्पान्वित कर रही हैं अर्थात् कृष्ण वियोग विधुरा धेनुगण को देखकर वे सब कम्पित हो रहे हैं। सुतरां उन सबको देखकर भी दया करना कर्त्तव्य है। धेनु समूह "अशिश्वी" अल्प वयस्का नहीं है, सवत्सा, "अप्रदुग्धाः" अक्षीण रसा अर्थात् प्रचुर रसवती "सर्वदुघाः" दुग्ध दोहनयोग्या अर्थात् दुग्धवती एवं "शशयाः" देवगण के कल्याण के निमित्त वर्त्तमाना अर्थात् दशविध हविः प्रदान द्वारा देवगण की तृप्ति विधानकारिणी रूप में विद्यमाना हैं। "नव्या नव्याः" प्रशंसार्हा व अप्रवीणा है, सुतरां "युवतयः" तरुण वयस्का एवं "भवन्ती" अत्यन्त गुणवती हैं, इस प्रकार उपकारी धेनुगण के प्रति कृतघ्नता के भय से विद्वेष प्रकट कर रहे हैं एवं हमें भी उद्विग्न कर रहे हैं यह "देवानामेकं महदसुरत्वं" देवगण का एक महा असुरत्व है॥२०॥

यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन् यूथे निदधाति रेतः।
स हि क्षपावान् सभगः सराजा महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥२१॥

ऋ. ३।३।३१/ ३।५५।१७

योऽस्माकं वल्लभः स एवास्मासु प्रतिकूलो जातः। देवास्तदेकाकाराः सर्वा अस्मदिन्द्रियवृत्तीः पश्यन्तोऽपि न तमस्मदर्थे प्रार्थयन्ते इत्येतावतैवोपालभ्यन्ते-ऽस्माभिरित्याहुः। यदन्यास्विति। यत् यः वृषभो महान् अन्यासु वृषस्यन्तीषु गोष्विव अस्मासु रोरवीति मुरलीवादनादिशब्दं करोति। तेनास्मान् रत्युन्मुखीः करोति। स एवास्मान् विहाय अन्यस्मिन् यूथे स्त्रीकदम्बे रेतो निदधाति। अन्याभ्यो रतिं प्रयच्छति। तेन प्रभुणा वञ्चिताः वयं कमन्यं शरणं व्रजेमहि। यतः स एव क्षपावान् चन्द्र, स एव भगः सूर्यः, स एव सर्वासां प्रजानां राजा स्वतन्त्रः। तस्मादवयवभूतांस्ततपरिसरवर्त्तिनो देवानेव उपालभामहे इत्यर्थः॥२१॥

अनुवाद- जो हमारे हृदयवल्लभ हैं वह ही हमारे प्रति प्रतिकूल हैं, यद्यपि उनके अङ्गीभूत देवगण सब ही हमारी इन्द्रियवृत्ति हैं, तथापि वे सब उन प्रियतम के निकट हमारे लिए कुछ भी प्रार्थना नहीं करते हैं। इस प्रकार अनुयोग कर गोपीजन बोलती हैं, "यत् वृषभः" जो महान् होकर भी "अन्यासु" अपर वृषसङ्गाभिलाषिणी धेनुगणों के समान हमारे उद्देश्य से "रोरवीति" मुरलीवादन करते हैं एवं उस मुरली शब्द से हम सबको प्रेमोन्मुखी करते हैं, "सः" वह ही हमें छोड़कर "अन्यस्मिन् यूथे" अन्य रमणीगण के यूथ में "रेतः निदधाति" रति प्रदान करते हैं। उन प्रभु के द्वारा वञ्चिता हम सब किसकी शरण में जाऊँगी ? कारण- "स हि क्षपावान्" आप ही चन्द्र हैं, "सभगः" आप ही सूर्य्य हैं, एवं "सः" आप ही निखिल जीवों के राजा हैं, सुतरां आप किसी से वशीभूत नहीं हैं, स्वतन्त्र हैं। अतएव उनके अवयव भूत देवगण को हम सब अनुयोग करती हैं, उन सबने हमारे लिए श्रीकृष्ण के निकट कुछ भी प्रार्थना नहीं की है, "देवानामेकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महा असुरत्व है॥२१॥

वीरस्य नु स्वश्व्यं जनासः प्र नु वोचाम विदुस्य देवाः।
षोळ्हा युक्ताः पञ्चपञ्चा वहन्ति महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥२२॥

ऋ. ३।३।३१/ ३।५५।१८

यस्मादयं स्वतन्त्रस्तस्मादेनमनुकूलयितुम् अस्यैव गुणान् कीर्त्तयाम इत्याहु:। वीरस्येति अस्य वीरस्य नु निश्चितं स्वश्व्यं शोभनाश्वत्वमित्युपलक्षणं शोभनायुधत्वादे:। भो जनास: प्रकर्षेण नु निश्चितं किं वोचाम कास्माकं शक्तिरस्तीत्याशया: किं तर्हि अयमस्तुत्य एव नेत्याहु:। अस्य एनं देवा: विदु: न तु वयं तत्त्वतो विद्म इत्यर्थ:। यत एनं षोल्हायुक्ता पञ्चपञ्चावहन्ति पञ्च-पञ्चविंशतिसंख्याभिमतभोक्त्रात्मसहिता: तत्त्वाभिमानिनो देवा: षोढ़ा षड्भि: प्रकारैर्युक्ता: रथिरथ सारथि-प्रग्रह-हय-गोचररूपेण बद्धा: सन्त्र: एनं साक्षिणम् आवहन्ति तं तं विषयदेशं प्रापयन्ति। तथा च श्रुति: "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु बुद्धि तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन: प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयां तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:" इति। आत्मादिभोक्त्रांतानां मिथ: सम्बन्धं दर्शयति। एवमेव विद्वांसो देवा: अस्मभ्यम् अप्येतद् विज्ञानां प्रयच्छस्तीति। महदित्यादि पूर्ववत्॥२२॥

अनुवाद- जब आप स्वतन्त्र राजा हैं, तब आपका अनुकूल करने के लिए गुण कीर्त्तन करना कर्त्तव्य है, यह मानकर गोपीगण कहती हैं, 'भो जनास:' हे जनगण! "वीरस्य नु स्वश्व्यं" हम सब उस वीर के शोभन अश्व, आयुध आदि का वर्णन कथा कर सकती हैं, उस प्रकार शक्ति हम सब में नहीं है। तब क्या आप अस्तुत्य हैं, अर्थात् हमारी स्तुति का विषय नहीं हैं? नहीं वैसा नहीं है। "अस्य" इनको "देवा: विदु:" देवगण जानते हैं, किन्तु तत्त्वत: हम सब नहीं जानती हैं कारण "षोल्हा युक्ता: पञ्च पञ्चा वहन्ति" पञ्च विंशति संख्याभिमत कर्मफल भोक्ता आत्मा समन्वित तत्त्वाभिमानीदेवगण, षड्विध रूप में अर्थात् रथ, रथी, सारथी, प्रग्रह, अश्व व गोचर रूप में आबद्ध होकर इस साक्षीरूप भगवान् श्रीकृष्ण को वह वह विषय प्राप्त करा देते हैं। अत: कठोपनिषद् में उक्त है, "आत्मानं रथिनमित्यादि" अर्थात् जीवात्मा को रथी, देह को रथ जानना, बुद्धि को सारथी, सङ्कल्प विकल्पात्मक मन को प्रग्रह जानना। इन्द्रियगण को अश्व जानना, एवं इन्द्रियगण विषय पथ में विचरण करती हैं। विवेकीगण देहेन्द्रिय मनोयुक्त आत्मा को ही भोक्ता मानते हैं। इस वाक्य में आत्मा एवं भोक्ता का परस्पर सम्बन्ध प्रदर्शित हुआ है, इस प्रकार सुविज्ञ देवगण हमें विज्ञान प्रदान करते हैं। किन्तु देवगण जब हमारे लिए

किसी प्रकार प्रार्थना नहीं करते हैं, तब वह ही "देवानामेकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महा असुरत्व है॥२२॥

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥२३॥

ऋ. ३।३।३१/ ३।५५।१९

अनुवाद- भगवज्ज्ञानं लब्धुं शक्तिर्नास्तीत्याशङ्क्याहुः। देव इति। अस्य सम्बन्धी एको देवः त्वष्टा सविता जगत्प्रसवकर्त्ता अतएव विश्वरूपः पुरुधा बहुप्रकारेण प्रजाः भौतिकीः इमाः इमानि विश्वाः सर्वाणि चतुर्दशभुवनानि जजान पुपोष च। यस्मादेक एव देवोऽस्य फलोपमस्यावयवः। स ईदृक्कर्मा किमुत सर्वे यदनुग्रहं कुर्य्युस्तदा तज्ज्ञानं सुलभमेव स्यात्। अतो निरनुग्रहाणां देवानां महदेकमसुरत्वमेकम्॥२३॥

अनुवाद- भगवज् ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति हम सबकी नहीं है। कहते हैं- "देवः" इनके सम्बन्धीय एकदेव "त्वष्टा" है त्वष्ट नामक देवता, "सविता" जगत् प्रसवकर्त्ता, अतएव "विश्वरूपः" निखिलविश्व उनका ही रूप है, "पुरुधा प्रजाः" बहुविध भौतिक जीव के स्वरूप "इमा च विश्वाः भुवनानि" यह निखिल चतुर्दश भुवन "जजान पुपोष च" उत्पादन किए हैं, एवं पोषण करते हैं। अतएव यह एक ही देवता फलोपम श्रीकृष्ण के अङ्ग स्वरूप मात्र होकर भी जब ईदृश कर्म करते रहते हैं, तब दूसरे की बात ही क्या है। वे सब यदि अनुग्रह करते हैं तो भगवत् ज्ञान लाभ निश्चय ही सुलभ होता है। अतएव वे सब जब अनुग्रह नहीं करते हैं तब वह "देवानामेकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महा असुरत्व है॥२३॥

मही समैरच्चम्वा समीची उभे ते अस्य वसुनान्यृष्टे।
शृण्वे वीरो विन्दमानो वसूनि महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥२४॥

ऋ. ३।३।३१/ ३।५५।२०

दिव्यदृष्ट्या पश्यन्तो भाविनापि कर्मणा भगवन्तं स्तुत्वोपालम्भते। महीति। महत्यौ चम्वौ कौरवपाण्डवसेने समीची अन्योन्यं सम्मुखे समैरत् सम्यक्

प्रेरितवान् ते उभे अपि अस्य वसुना बलेन न्यृष्टे प्रचलिते एवं सर्वचालकोऽप्ययं वीरः वसूनि संग्रामे जयलब्धानि धनानि विन्दमानो लभमानः शृणवे श्रुत इति महत् महान्तमीश्वरे अभिन्नेऽपि भेदं कल्पयतां। देवानामित्यादि पूर्ववत्॥२४॥

अनुवाद- दिव्यदृष्टि के द्वारा भगवान् के भावी कर्म को सूचित करके भगवान् की स्तुति के छल से इस प्रकार आक्षेप प्रकाश करते हैं, "महीचम्वा" महती कौरव पाण्डव सेना के सम्मुख में "समीची" परस्पर सम्मुख में "समैरत्" जो प्रेरित थे, "ते उभे" उस उभय सेनादल ही "अस्य" इस भगवान् श्रीकृष्ण के "वसुनान्यृष्टे" बलद्वारा परिचालित होते थे। एवं सबके परिचालक होकर भी "वीरः" वीर पुरुष, "वसुनि" युद्धे जय लब्ध धन समूह "विन्दमानः" प्राप्त किये थे। "शृणवे" यह हम सब सुने हैं, यह महापुरुष परमेश्वर के साथ अभिन्न होने पर भी जो भेद कल्पना करते हैं, वह "देवानामेकं महदसुरत्वं" देवगण के यह एक महा असुरत्व है॥२४॥

इमाञ्च नः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रा न राजा।
पुरः सदः शर्म्मसदो न वीरा महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥२५॥

ऋ. ३।३।३१/ ३।५५।२१

इमामिति। इमां पृथिवीं विश्वं धायतेस्यामिति विश्वधायास्तम्। द्वितीयार्थे प्रथमा। बहुभाराक्रान्तां च नोस्माकं धारयित्रीम् उपक्षेति उपेत्य पालयति। हितमित्रः न हितमित्रमिव राजा रञ्जकः हितः श्रेयोर्थी पुण्यप्रवर्त्तनेन मित्रं दुःखात् त्राणकृत्। भारापहरणेनेति विवेकः। यद्यपि खलनिग्रह प्रयोजनेनापि सुकृतं भवत्येव। तथापि शर्मसदः कुशलार्थं सीदन्तः समासनाः परमकल्याणकारिणो ब्रह्मलोके पुरःसदः ब्रह्मसमीपस्थायिनः न तु वीराः मृता अपि। किमुत जीवन्त इत्यर्थः। तेनास्मत्त्राणजं फलमुपेक्ष्य स्वकार्य्ये शत्रुनिग्रहे कृष्णं योजयतां देवानामित्यादि पूर्ववत्॥२५॥

अनुवाद- "इमां विश्वधायाः" इस बहुभाराक्रान्त "च नः" एवं हमारी धारयित्री "पृथिवीं" धरणी का समीपस्थ होकर पालन करते हैं। अर्थात् धराधाम में अवतीर्ण होकर पालन करते हैं। "हितमित्रः न राजा" आप हितकारी मित्र के समान हमारे रञ्जक हैं। अर्थात् श्रेयोर्थी रूप में पुण्यधर्म प्रवर्त्तन पूर्वक

भारापहण कर साधुजन का परित्राण दु:ख सागर से करते हैं। यद्यपि दुष्कृतजन को निग्रह के लिए धर्म प्रवर्त्तन का प्रयोजन होता है, तथापि जो "शर्म्मसद:" कल्याण के लिए समासीन हैं, वे सब ब्रह्म लोक में "पुर: सद:" ब्रह्म समीप में अवस्थान करते हैं। किन्तु "वीरा:" वीर पुरुषगण जीवितावस्था में दूर में रहते हैं। मृत्यु के बाद भी ब्रह्म सामीप्य लाभ नहीं होता है। अतएव हमें परित्राण करने के लिए फल की उपेक्षा कर निज प्रयोजन से शत्रु निग्रह के लिए श्रीकृष्ण को नियोजित करते रहते हैं, उस "देवानामेकं महदसुरत्वं" देवगण का यह एक महा असुरत्व है॥२५॥

निष्विध्वरीस्त ओषधीरुतापो रयिं त इन्द्र पृथिवी विभर्त्ति।
सखायस्ते वामभाजः स्याम महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥२६॥

ऋ. ३।३।३१/ ३।५५।२२

निष्विध्वरीरिति। निश्चयेन गत्वरी:। षिधु गतावित्यस्मात् क्वरप्। ओषधीरोषधयश्च ते तवैव उत आप: आपोऽपि तवैव तथा रयिं धनं च ते तवैव स्वभूतं हे इन्द्र पृथिवी विभर्त्ति यत्किञ्चित् पृथिवी धारयति तत्सर्वं तदीयमेव। अतस्त्वं वसूनि जयसीत्यतदमुक्तम्। अथापि यत् किञ्चित् व्याजेन अस्मांस्त्यजसि यदि तर्हि यत्त्वां प्रार्थयामस्तदस्मभ्यं देहीत्याशयेनाहु:। सखाय इति। ते तव सिद्धेश्वरस्योपासनादैश्वर्य्यं प्राप्ता: वयं सखाय:। "तं यथायथोपासते तथेत: प्रेत्य भवति" इति श्रुते:। त्वत् सारुप्यप्राप्त्या निरस्तस्त्रीभावा: अतएव सखाय: तव मित्राणि सन्त: वामम् उपासनाफलमैश्वर्य्यं भजन्ति ते वामभाज: स्याम भवेम। "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्चेति" शास्त्रान्तन्यायेन वयमपि तद्वत् सत्यसङ्कल्पाद्यैश्वर्य्यमनुभवेम। तत्रच देवानामसुरत्वमेकं महद्विघ्नकरमस्ति तन्निवारणेनास्मान् त्राहीति भाव:। एवं च कैवल्यापेक्षया शेषार्ज्जुनादिकृता सख्यात्मिका भक्तिरेव श्रेयसीति दर्शितम्॥२६॥

अनुवाद- "हे इन्द्र"! हे गोविन्द। "निष्विध्वरी" तुम्हें मना करने पर भी तुम निश्चय ही जाओगे। यह जो "ओषधी" ओषधी समूह, वह तुम्हारी है, "उत" ऐसा कि- "आप:" जल भी तुम्हारे हैं। "रयिं" निखिल धनरत्न तुम्हारे हैं, एवं "पृथिवी विभर्त्ति" पृथिवी जो कुछ धारण करती है, वे सब ही तुम्हारे

हैं। तुम धन समूह को जय कर रहे हो, यह तुम्हारे लिए अयुक्त है। तब यदि किसी बहाने से हम सबको परित्याग करते हो, तब तुम्हारे निकट हम सब की जो प्रार्थना है, उसे प्रदान करो, तुम ही परमेश्वर नाम से प्रसिद्ध हो। तुम्हारी उपासना कर ऐश्वर्य्य प्राप्त कर हम सब "ते सखाय" सख्य प्राप्त हुए हैं। छान्दोग्य श्रुति में उक्त है, "तं यथायथोपासते" इत्यादि श्री भगवान् की उपासना जो जिस भाव से करता है, उस भाव को प्राप्त करता है, अतएव तुम्हारे सारूप्य प्राप्त कर हमारे स्त्रीभाव विनष्ट हो गया है, सम्प्रति तुम्हारे सखास्वरूप हम सब "वामभाजं स्याम्" उपासना फल रूप ऐश्वर्य्य भजनकारी बनेंगे। वेदान्त में उक्त है, "भोगमात्र साम्यलिङ्गाच्चेति" जीव का केवल भोग विषय में ही भगवत् साम्य प्रदर्शित हुआ है। मुक्त पुरुष का क्लेशाभाव एवं आनन्दांश में परमेश्वर साम्य स्वीकृत है, किन्तु सामर्थ्य स्वरूपादि समस्त विषयों में भेद अवश्य स्वीकार्य्य है। अतएव हम सब भी तुम्हारी भाँति सत्य सङ्कल्पादि का अनुभव करेंगे। किन्तु उसमें "देवानामेकं महदसुरत्वं" देवगण का एक महा असुरत्व विघ्नकर है। उसका प्रतिकार कर हमारी रक्षा करो। इस प्रकार कैवल्य से भी अर्ज्जुनादि के समान सख्यात्मिका भक्ति गरीयसी है, उसका प्रदर्शन इसमें हुआ है॥२६॥

सप्तमे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः।
यमुनायामधिश्रुतमुद्राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे॥२७॥

ऋ. ४।३।१०/ ५।५२।१७

अथ रामकृष्णावादाय मथुरां गच्छताक्रूरेण स्नानकाले यमुनायां जातं भगवद्दर्शनमात्मनः कीर्त्यते। सप्तमे इति। सप्त सप्त संख्याः एकोन पञ्चाशत् मरुतः प्राणायामदेवताः अघमर्षणकाले प्रसन्नाः सन्तः एकमेका एकमेकम्। सुपो डादेशः। प्रत्येकमित्यर्थः। शता शतानि ऐश्वर्य्याणि। शतमैश्वर्य्यं भवतीति यास्कः। मेददुः दत्तवन्तः। यतः अधिश्रुतं सर्वोपेक्षया उपरिश्रुतं वेदादा-कलितं राधो वित्तम् "एषास्य परमा सम्पद्" इत्युपनिषत् प्रसिद्धं भूमसंज्ञं ब्रह्मलोके च रामकृष्णवेषं यमुनायाम् अघमर्षणकाले मृजे मृगये। पश्यामीत्यर्थः। तदेव राधः उत् उर्द्धम् आकाशे गव्यं गोषु सूर्य्यरश्मिषु सूर्य्यमण्डलेऽपीत्यर्थः। तत्रापि

सूर्य्योपस्थापनकाले मृजे। तदेव च राधः अश्व्यम् अश्ववाह्ये रथे स्थितं नि निहिते भूस्थानेऽपि मृजे। अत्र दर्शनं पुराणेषु नोक्तम्। एकस्य राधसो दर्शनेन सर्वकर्मफलावाप्तिश्च सूचिता ॥२७॥

अनुवाद- अनन्तर रामकृष्ण को लेकर मथुरा जाते समय अक्रूर यमुना में स्नान करते समय भगवद् दर्शन किए थे, उसका कीर्त्तन करते हैं। "सप्तमे सप्त शाकिनः" सप्त गुणित सप्त अर्थात् उनपञ्चाश वायु, प्राणायाम देवता, वे सब अघमर्षण के समय प्रसन्न होकर "एकमेका" प्रत्येक ही "शता" शत शत ऐश्वर्य "ददुः" हम सबको देते हैं। कारण- "अधिश्रुतं" सर्वापेक्षा उपरिश्रुत वेद प्रतिपाद्य "राधः" वित्त, अर्थात् "एषास्य परमा सम्पत्" यह सब भगवान् की ही परम सम्पद् है, उपनिषद् प्रसिद्ध ब्रह्मलोक स्थित भूमा नाम से कथित सम्पत् को ही अर्थात् रामकृष्ण मूर्त्ति को ही, हम सब "यमुनायां" अघमर्षण के समय "मृजे" अन्वेषण करते हैं वह "राधः" परमा सम्पत् "उत्" अर्द्धे आकाशे "गव्यं" सूर्य्य मण्डल के मध्य में स्थित है, सूर्य्योपस्थापन के समय देख रहे हैं। वह "राधः" वह सम्पत् "अश्व्यं" अश्व बाह्ये रथ में भी अवस्थित देखते हैं। "नि" भूतल में भी देख रहे हैं। यहाँ पर राधस् अथवा परमा सम्पत्ति का दर्शन से ही सर्वकर्म फल प्राप्ति सूचित हो रहा है ॥२७॥

विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रवोचं यः प्रार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥२८॥

ऋ. २।२।२८/ १।१६४।१

अक्रूरजप्यं षड़क्षरमन्त्रं दर्शयति। विष्णोरिति। विष्णोर्वीर्याणि वीर्य्योपलक्षितं कामम्। बहुत्वं पाशन्यायेनावयवाभिप्रायम्। वाच्यवाचकयो-रभेदात् तत्प्रतिपादकं शब्दं प्रवोचं प्रोक्तवानस्मि। तमेव दर्शयति। य इति। यो विष्णुः कं ककारं पार्थिवानि रजांसि च विममे। कमिति व्यञ्जनमात्रं विस्वरम्। अतो विभक्तिस्वर एवात्र शिष्ट इत्यनुदात्तम्। पृथिवी देवता येषां तानि पार्थिवानि। बहुत्वं पूजायाम्। तेन लमिति पृथिवीबीजमुद्धृतं भवति। रञ्जयन्ति इष्टप्रदानेति रजांसि रञ्जकानि विममे शब्दितवान्। एकीकृत्येति शेषः। यश्च शब्दस्य प्रमाता उत्तरं उत्कृष्टतरं सधस्थं स्थानम् अधिष्ठानम् अस्कभायत् स्तम्भितवान्। तेन

"तत्त्वात्मान: स्मृता: स्पर्शामकार: पुरुषो यत:" इति स्मृतेर्मकारमप्यत्रावरुद्धवान्। एवं ककार-लकार-मकारेषूद्धृतेषु ईकारमुद्धरति। त्रेधा विचक्रमणि उरुगाय इति। अस्मिन्नेव मातृकारूपे जगदण्डे त्रेधा विक्रममाण: त्रीन् वर्णान् अ, आ, इ एतान् लङ्घयन् चतुर्थ: उरुगायो दीर्घतया गेय: ईकार: तद्रूपोऽयमित्यर्थ:। अत्र यद्यपि उद्धारक्रमे मकारात्परत: ईकारो दृश्यते। तथापि ईकारस्य उत्तरमिति विशेषणात्तत: पूर्वत्वम्। तेन ककारलकार- ईकारमकारसंघात्मकं कामबीजमुद्धृतं भवति ॥२८॥

अनुवाद- अत: पर अक्रूर जप्य षड़क्षर मन्त्र का प्रदर्शन करते हैं। अर्थात् इस ऋक् में कामबीज का वर्णन है। "विष्णो: वीर्याणि" भगवान् के वीर्य्योपलक्षितकाम अर्थात् काम वाचक अभेद हेतु तत् प्रतिपादक शब्द का "प्रवोचं" प्रकाश कर रहा हूँ। यथा- "य:" जो भगवान् विष्णु "कं" यह विस्वर अर्थात् स्वर वर्ण संयोग रहित ककारको "पार्थिवानि रजांसि च विममे" पार्थिव वस्तु के संयोग से अभीष्ट प्रदान हेतु रञ्जक रूप में शब्दित कर रहे हैं। पृथिवी देवता है जिनके उन सबको पार्थिव कहते हैं। इस स्थल में गौरव में बहुवचन प्रयोग हुआ है। अतएव इससे "ल" यह पृथिवी बीज का उद्धार हुआ है, ककार के साथ यह पार्थिव अर्थात् "लकार एकत्र संयोग कर शब्दित किए थे "य:" जिस शब्द का प्रमाता "उत्तरवत्" उत्कृष्टतर "सधस्थं" अधिष्ठान को "अस्क भायत्" स्तम्भित किए थे। इससे स्मृति वर्णित "मकार" का भी बोध होता है, इस प्रकार क्+ल्+म् का उद्धार करते हैं। "त्रेधा विचक्रमाण" इसमें मातृका रूप में जगत् ब्रह्माण्ड में त्रिधारूप में विक्रमशाली त्रिवर्ण अ, आ, इ – इस तीन वर्ण को उल्लंघन कर चतुर्थ- "उरुगाय" दीर्घ रूप में गेय अर्थात् ईकार उसका रूप है। यहाँ पर यद्यपि उद्धार क्रम से मकार के बाद "ई" कार दृष्ट होता है, तथापि ई कार के उत्तर" इस विशेषण से मकार के पूर्व में ईकार की स्थिति सूचित हुई है। अतएव उद्धृत वर्ण संघ से क्+ल्+ई+म् "क्लीं" कामबीज उद्धृत हुआ ॥२८॥

प्रतद्विष्णु: स्तवते वीर्य्येण मृगो न भीम: कुचरो गिरिष्ठां।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रकणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२९॥

ऋ. २।२।२४/ १।१६४।२

प्रतदिति विष्णुवीर्य्येण कामबीजेन सह उच्चारितं तत् पदं प्रस्तवते प्रकर्षेण स्तौति। तत् किम्। यस्य वाच्यार्थः मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा इति। यथा भीमो भयङ्करः मृगः सिंहस्तद्वत्दुष्टान् मर्दयतीत्यर्थः। कुचरः कौ पृथिव्यां भूतपूर्व्वः भुवि कृतावतारः दीर्घं शब्दं मुरलीरवं कुर्वाणो वा, गिरिष्ठाः गिरौ गोवर्द्धने तिष्ठतीति तादृशः। तेन कृष्ण इति पदं लक्ष्यते। यद्यपि गिरिष्ठत्वं रुद्रस्य नृसिंहस्य चास्ति। तथापि यस्य तयोवीर्यसाहचर्याभावान्नात्र ग्रहणं युज्यते। यस्य विष्णोर्वामनावतारे उरुषु महत्षु त्रिषु पादविक्षेपेषु विश्वा भुवनानि चतुर्दशलोकाः अधिक्षियन्ति संक्षिप्यन्ते तावत्मध्येधिवसन्तीति वा॥२९॥

अनुवाद- "विष्णु वीर्य्येण" कामबीज के साथ उच्चारित "तत्" उनका परमपद का "प्रस्तवते" प्रकृष्ट रूप से स्तव करते हैं, वह ही कुचरो अर्थात् पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करके दीर्घ शब्द अर्थात् मुरली ध्वनि किए थे। "भीमः न मृगः", आप भयङ्कर सिंह के समान दुष्टगण को विमर्द्दित करते हैं। एवं "गिरिष्ठाः" श्रीगोवर्द्धन पर्वत में अवस्थान करते हैं। इस वाक्य समूह से श्रीकृष्ण पद ही निर्दिष्ट हुआ है, यद्यपि इस प्रकार गरिष्ठत्व महादेव एवं नृसिंह देव में भी है, तथापि उनके वीर्य्य साहचर्य्य इस स्थल में न होने से उनका ग्रहण यहाँ पर नहीं हो सकता है, "यस्य" जिस भगवान् वामन अवतार में "उरुषु त्रिषु विक्रमाणेषु" अति महान् त्रिपाद विक्षेप "विश्वाभुवनानि" निखिल भुवन अर्थात् चतुर्दश लोक को "अतिक्षिप्यस्ते" संक्षेप कर स्वीय पाद विक्षेप के अन्तर्भूत किए थे। पूर्व मन्त्र में "क्लीं" बीज का उद्धार कर इस ऋक् में "कृष्ण" पद का उद्धार हुआ है॥२९॥

प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षत उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः॥३०॥

ऋ. २।२।२४/ १।१६४।३

चतुर्थी नमः शब्दावुद्धरति। प्रविष्णव इति। तस्मै गिरिष्ठाय विष्णवे शूषं सर्वं प्रसवसमं सत् मनुतेऽनेनेति मन्म हृदयं प्रैतु प्रकर्षेण गच्छतु। अत्र हृदयमिति नमः शब्द उच्यते। तत्संयोगाद्विष्णव इति द्वितीयास्थाने चतुर्थ्याः विधानात् कृष्ण शब्दाच्चतुर्थी ग्राह्या। कृष्णाय नमः इत्युद्धृतं भवति। गिरिक्षिते

गोवर्द्धन-नाथाय उरुगायाय महाकीर्त्तये वृष्णे अभिमतफलवर्षुकाय यो विष्णुः इदं दीर्घं महत् वाच्यं वाचकं च प्रयतं प्रकर्षेण निगृहीतं सत् सधस्थं जनानां विद्यानां वा स्थानं भुवनकोशं वाङ्मयं च एको विममे त्रिभिरेव पदैः प्रक्रमैः क्लीं कृष्णाय नमः इत्यन्तैर्वा परिमितवान् तस्मै मन्म एवेति सम्बन्धः। अस्यैव मन्त्रस्य माहात्म्यम् "आस्य जानस्तो नाम चिद्विविक्तनम्" इत्यन्तैर्मन्त्रैः कथ्यत इति भक्ति-कामैरयमुपास्यः॥३०॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्य्यादाधुरन्धरवंशावतंसगोविन्दसूरिसूनो नीलकण्ठस्य कृतौ सोद्धृतमन्त्रभागवतव्याख्यायां मन्त्ररहस्य प्रकाशिकायामक्रूरकाण्डस्तृतीयः॥३॥

अनुवाद- अनन्तर इस ऋक् में षड़क्षर मन्त्र की चतुर्थी विभक्ति का एवं नमः शब्द का उद्धार करते हैं। "विष्णवे" उन गोवर्द्धन स्थित श्रीकृष्ण के प्रति "शूषं" सर्वप्रसवसम "मन्म" सदसत् मननशील हृदय "प्रैतु" प्रकृष्ट रूप से प्रधावित हो। इस स्थल में "हृदय" इस वाक्य से "नमः" शब्द सूचित हुआ है। उसके संयोग से विष्णु शब्द में द्वितीया विभक्ति के स्थान में "विष्णवे" चतुर्थी का विधान हुआ है। अतएव इस रीत्यनुसार कृष्ण शब्द में भी चतुर्थी विभक्ति ग्रहणीय है। सुतरां सम्प्रति "कृष्णाय नमः" वाक्योद्धार हुआ। उन "गिरिक्षित" गोवर्द्धनपति "उरुगाय" महाकीर्त्तिशाली "कृष्णे" अभिमत फलवर्षी श्रीकृष्ण के प्रति निविष्ट हो। "यः" भगवान् श्रीकृष्ण "इदं दीर्घं" यह जो महान् वाच्य वाचकः "प्रयतं" प्रकृष्ट रूप से निगृहीत एवं "सधस्थं" जीव का एवं निखिल विद्या के स्थान स्वरूप भुवन कोष एवं वाङ्मय स्वरूप मन्त्र को "एकः" श्रेष्ठ रूप में "त्रिभिः इत्पदेभिः" क्लीं कृष्णाय नमः त्रिपद विशिष्ट करके "विममे" परिमित किए हैं, उन परब्रह्म श्रीकृष्ण को नमस्कार। इस मन्त्र का माहात्म्य "आस्य जानन्तो नाम" इत्यादि मन्त्र में कथित हुआ है। यह भक्ति कामी व्यक्तिगण के द्वारा उपास्य है॥३०॥

इति श्री मन्त्र भागवत व्याख्यानुवाद में तृतीय काण्डः॥

चतुर्थकाण्डः

श्रीमथुराकाण्डः

युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः।
अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे॥१॥

ऋ. २।२।२२/ १।१५२।१

अथ मथुरा प्रविष्टयोः रामकृष्णयोः रजक-मालाकारादिषु निग्रहानु-ग्रहादिकमाह। युवमिति। भो मित्रावरुणौ पूर्वपश्चिमौ अन्तर्य्यामि सूत्रात्मनौ "यो देवानां नामधा एक एव" इति सर्वदैवतनामभिस्तयोरभिधेयत्वस्य प्रागेव दर्शितत्वात् युवं वस्त्राणि परकीयानि पीवसा बलेन वसाथे स्वां तनुं छादयेथाम्। कंसस्य रजकं हत्वा तदीयानि वासांसि बलात् गृहीतवन्ताविति प्रसिद्धम्। यथा युवोः युवयोः मन्तरः मानयितारः सर्गाः सृजन्ति दिव्याङ्गानुलेपनादीनीति सर्गाः मालाकारकुब्जादयः अच्छिद्राः पूर्णाः। जाता इति शेषः। आत्मलाभादेव पूर्णत्वं भवति, नान्यथेति ते कृतकृत्या जाता इत्यर्थः। तथा विश्वा ऋकार उदये कथावकारमिति संहितायां ह्रस्वत्वं विश्वऋतेनेति। सर्वाणि अनृतानि आत्मनि गोपत्वं द्रुमिलपुत्रे कंसे च यादवत्वं मल्लमतङ्गजादिषु भयङ्करत्वं इति एतानि अवातिरतं तीर्णवन्तौ। तथा ऋतेन स्वीयेन सत्येन यादवत्वेन सचेथे सङ्गतवन्तौ। गोपच्छद्म विहायेतरांश्चानृत प्रधानान्निहतवन्तावित्यर्थः॥१॥

अनुवाद- अनन्तर श्रीरामकृष्ण मथुरा नगर में प्रविष्ट होकर रजक मालाकारादि को जो निग्रहानुग्रह किए थे, उसका वर्णन इस मन्त्र में है। "भो मित्रावरुणौ" "हे अन्तर्य्यामिन्" हे सूत्रात्मन्! हे रामकृष्ण! ("यो देवानां नामधा एक एव" इत्यादि मन्त्र में सब देवता का अभिधेयत्व उभय में पर्यवसित है, उसका वर्णन इसके पहले हुआ है।) "युवं वस्त्राणि" तुम दोनों ने दूसरे के वस्त्र समूह "पीवसा" बलपूर्वक ग्रहण कर "वसाथे" निजाङ्ग को आच्छादित किया

है। प्रसिद्ध है रामकृष्ण कंस के रजक की हत्या करके तदीय वस्त्रसमूह बलपूर्वक ग्रहण किए थे। "युवो:" उभय के "मन्तव:" माननीय रूप में "सर्गा:" दिव्य अङ्गानुलेपनादि कर मालाकार एवं कुब्जादि "अच्छिद्रा:" पूर्ण मनोरथ हुए थे। आत्मसाक्षात्कार लाभ से पूर्णत्व लाभ होता है, अन्यथा नहीं। सुतरां वे सब कृत कृतार्थ हो गए। "विश्व जनृतासि अवातिरतम्" अनन्तर वे दोनों भाई अपूर्व मायाजाल को विस्तार कर समस्त, दूसरे प्रकार से प्रकाश किए थे। स्वयं आत्मगोपनकर द्रुमिल पुत्र कंस के निकट यादव रूप में मल्ल मतङ्गजादि के निकट भयङ्कर रूप में आत्मप्रकाश किए थे। यह रूप "ऋतेन" अपने को सत्य ही यादवरूप में जो प्रकाश किये थे वह "सवेथे" वास्तविक ही सङ्गत हुआ था। फलत: आप दोनों ने गोपवेश का त्याग कर असत्य प्रधान सबको मार डाला था॥१ ॥

इन्द्रो विश्वैवीर्य्यैः पत्यमान उभे आपप्रौ रोदसी महित्वा।
पुरन्दरो वृत्रहा धृष्णुषेणः संगृभ्या न आ भरा भूरि पश्वः॥२॥

ऋ. ३।३।२६/ ३।५४।१५

तत्र कंसवधप्रकारमाह इन्द्र इति। इन्द्रः विश्वैः कृत्स्नैः वीर्य्यैः बलैः पत्यमानः पतन्। अर्थात् मञ्चादधः पतितस्य कंसस्योपरि पततीति पुराणाल्लभ्यते। महित्वा महत्वेन उभे रोदसी द्याव्या पृथिव्यौ आपप्रौ पूरितवान्। त्रैलोक्यस्य स्वान्तर्गतस्य भारं क्षिप्तवानित्यर्थः। अतएव पुरं शरीरं दारयतीति पुरन्दरः शत्रुशरीर विदारकः एवञ्च वृत्रहा धर्मपिधातुः कंसस्य हन्ता। धृष्णुर्विश्वपालनक्षमो सेनासमूहो यस्य स धृष्णुषेणः। एवम्भूतः इन्द्रः परमेश्वरः त्वं महाविष्णो भूरिपश्वः बहून् पशुप्रायान् असुरान् संगृभ्या संगृह्येत्यर्थः। नः अस्मान् आभरा साकल्येन पालय॥२॥

अनुवाद- कंस वध का वर्णन करते हैं। "इन्द्र:" श्रीकृष्ण "विश्वैर्वीर्य्यै:" समस्त बल के साथ "पत्यमानं" गिरकर अर्थात् रङ्गमञ्च से नीचे धरती में गिरे हुए कंस के ऊपर गिरकर "महित्वा" महत्व के द्वारा "उभे रोदसी" अन्तरिक्ष एवं पृथिवी मण्डल को "आपप्रौ" पूर्ण किया, अर्थात् अपने शरीर स्थित तीन लोकों का भार उसके ऊपर दिया। अतएव श्रीकृष्ण "पुरन्दर:"

शत्रु शरीर विदारक "वृत्रहा" धर्म्मावरक कंस को मारने वाले हैं। "धृष्णुषेण" विश्व पालन समर्थ सेना विशिष्ट परमेश्वर महाविष्णु आप हैं। "भूरिपर्श्व:" पशु के समान बहुत से असुरों को "संगृभ्या" संहार करके "न:" हम सबको "आभरा" सब प्रकार से पालन करो ॥२ ॥

यशस्करं बलवन्तं प्रभुत्वं तमेव राजाधिपतिर्बभूव।
संकीर्णनागाश्वपतिर्नराणां सुमङ्गल्यं सततं दीर्घमायु: ॥३ ॥

"ऋषभं मा समानानाम्" इति मन्त्रे प्रागुदाहृतमं राजराज्य प्रार्थनं तदध ुना शक्रादय: कृष्णाय सम्पादयन्तीत्याह। यशस्करमिति। द्वितीया प्रथमार्थे। राजाधिपति: नराणां मध्ये यशस्करो बभूव। यद्वा बलवान् यशस्कर: प्रभुत्ववांश्च स राजाधिपति: बभूवेत्यर्थ:। स एव संकीर्णनागाश्वपति: सन् नराणां सततं सुमङ्गल्यं दीर्घमायुश्च दत्तवान् ॥३ ॥

वृन्दावन काण्डोक्त १९वें मन्त्र में जिस राज्य की प्रार्थना है, उसका सम्पादन कृष्ण के निमित्त इन्द्र प्रभृति कर रहे हैं। जो "राजाधिपति:" राजाओं का राजा है, आप "नराणां" मनुष्यों के मध्य में "यशस्कर: बभूव:" यशस्कर हुए हैं। अथवा जो "बलवन्तं यशस्करं प्रभुत्वं" बलवान् यशस्कर व प्रभुत्ववान् हैं, आप राजाधिपति हुए हैं। आप ही "सङ्कीर्ण नागा" व्यापक श्रेष्ठ "स्वपति:" निखिल मङ्गल के कारण होकर "नराणां" मनुष्यों को "सततं सुमङ्गल्यं दीर्घमायुष:" निरन्तर कल्याण और चिरायु दान करते हैं ॥३ ॥

यो धर्त्ता भुवनानां य उस्त्राणामपीच्या वेद नामानि गुह्या।
स कवि: काव्या पुरु रूपं द्यौरिव पुष्यति नभं तामन्यके समे ॥४ ॥

ऋग्वेद सं ६ ।३ ।२६/ ८ ।४१ ।५

यो धर्त्तेति। यो विष्णु: भुवनानां भूरादीनां धर्त्ता, यश्च उस्त्राणां गवां अपीच्य अपीच्यानि रम्याणि तत्तत्गुणविशेषीकृतानि नामानि वेद जानीते, गुह्या गुह्यानि। यथोक्तं भारते "ऋषभानपि जानामि सम्यक् पूजितलक्षणान्। येषां मूत्रमुपाघ्राय अपिबन्ध्या प्रसूयते" इत्येवं गवामपि गोप्यानि सन्तीत्यूह्यम्। स कवि: सर्वज्ञ: काव्या काव्यं कवीनां स्तुत्य: पुरु बहुविधं रूपं पुष्यति आदाय

पुष्टं च करोति। तत्र दृष्टान्तः द्यौरिवेति। यथा दुस्थां देवाः प्रतियजमानं रूपभेदान् कृत्वा, युगपदनेकान् यज्ञान् गच्छन्ति तद्वदित्यर्थः। नभंतामिति प्रागवत्॥४॥

अनुवाद- "यः भुवनानां धर्त्ता" जो भगवान् श्रीकृष्ण समस्त भुवन को धारण किये हैं। "यः" जो "उस्राणां" धेनु समूह के "अपीच्या" रमणीय हैं। "पामानें" उन सबके गुण प्रकाशक नामसमूह हैं, उन सबके "गुह्या" गोपनीय विषय को जानते हैं। इस प्रकार गोपनीय विषय के सम्बन्ध में महाभारत में लिखा है "ऋषभानपि जानामीत्यादि" मैं इस प्रकार सुलक्षण युक्त वृषभों को जानता हूँ, जिन सबके मूत्र घ्राण करके बन्ध्या धेनु समूह भी सन्तान प्रसव करने में सक्षम होती हैं। गौओं के गोपनीय विषय यही हैं। "सः" उन भगवान् श्रीकृष्ण "कविः" सर्वज्ञ "काव्य" कवियों का स्तवनीय, "पुरुरूपं द्यौरिव पुष्यति" जिस प्रकार अन्तरिक्ष स्थित देवतागण यजमान के पास एक साथ बहुत से यज्ञों में जाते रहते हैं, उस प्रकार आप भी अनेक प्रकार रूप धारण करके रहते हैं। किन्तु "अन्यके समे" कुत्सित दुष्ट शत्रुगण ही "नमत्तां" सबको हिंसा करते रहते हैं॥४॥

य आस्वत्क आशये विश्वा जातान्येषाम्। परिधामानि मर्मृशद्वरुणस्य पुरो गये विश्वेदेवा अनुव्रतं नभं तामन्यके समे॥५॥

ऋग्वेद सं ५।३।२७/ ८।४१।७

"यस्मिन् विश्वानि काव्या" इति मन्त्र प्राग्व्याख्यातं। (प्रथमखण्डे तृतीय मन्त्रे)। तदनन्तरं मन्त्रं व्याकुर्म्मः। य आस्विति। आशेरते अस्मिन् इत्याशयो गृहं तत्र। यः आसु गृहिणीषु आसां समीपे अत् कः अतति सततं गच्छति विद्यते इत्येतत् कः। युगपत् सर्वासु सन्निहितो योगेन। तथा एषां सन्निहितानां भ्रात्रादीनां विश्वासर्वाणि जातानि जन्यमात्राणि स्वभूतानि। सर्वे पर्य्याप्त सर्वकामा इत्यर्थः। वरुणस्य अपां पत्यु गये। "प्राणावैगया" इति श्रुतेः प्राणभूते गृहे समुद्रे पुरः पुरोदेशे पश्चिमसमुद्रस्य पूर्वस्यां दिशि समीपे। द्वारकायामित्यर्थः। धामानि स्त्रीणां बन्धूनां च परितः मर्मृशत् अतिशयेन परामृशति। सर्वेषां गृहकृत्यं विचारयन्नास्ते। तत्र दृष्टान्तः यथा विश्वेदेवाः अनुव्रतं पतिव्रतं सर्वेषाम् यजमानानां गृहं प्रतीत्यर्थः। तथा योगेन प्रतिगृहम् आस्ते तदीयानामस्माकं नभन्त्वामन्यके समे॥५॥

अनुवाद- प्रथम काण्ड में "यस्मिन् विश्वामि काव्या" इस मन्त्र की व्याख्या की गई है। यहाँ पर उसके बाद के मन्त्र की व्याख्या की जा रही है। "आशये" शयन कक्ष में "य:" जो "आसु" गृहिणीओं के पास "अत्क:" युगपद् विद्यमान थे "एषां" निकटवर्त्ती "विश्वाजातानि" समस्त जीव ही सुखी हुए थे। जो जल के पति "वरुणस्य" के "गये" प्राण स्वरूप भवन में अर्थात् समुद्र में "पुर:" सामने अर्थात् पश्चिम समुद्र के पूर्व दिक् में "धामानि" द्वारका धाम में स्त्री एवं बन्धु के सहित "परिमर्मृशत्" हर प्रकार से परामर्श करते थे अर्थात् सबके गृहकृत्य के विषय में विचार पूर्वक निवास करते थे। जिस प्रकार "विश्वेदेवा अनुव्रतं" विश्वदेव सभी यजमानों के घर में एक साथ रहते हैं, इस प्रकार श्रीकृष्ण प्रत्येक महिषी के घर में एक साथ रहते थे। किन्तु शत्रुवृन्द हम सबको "नमस्तं" हिंसा करते रहते हैं॥५॥

अपि वृश्च पुराणवत् व्रततेरिव गुष्पितमोजो दासस्य दम्भय।
वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण विभजे महिंनभन्तामन्यके समे॥६॥

ऋग्वेद सं. ६।३।२४/ ८।४०।६

अथास्य स्त्रीणामैश्वर्य्यं पारिजातहरणे नारद आह। अपि वृश्चेति। हे भगवन् गुष्पितं पुष्पितमपि द्रुमं व्रततेरिव लताया: सकाशात् पुष्पगुच्छमिव दिव: सकाशात् वृश्च आच्छिद्य पुराणवत् विष्णुवत् अदिति पुत्रत्वेन इन्द्रस्य भागहारो भूत्वेत्यर्थ:। दासस्य विघ्नकर्त्तुरिन्द्रादेश्च उज: सामर्थ्यं दम्भय नाशय। वयम् ऋषय: तत्प्रसिद्धम् अस्य बुद्धिस्थस्य अनेन कश्यपेन पित्रा सम्भृतं सञ्चितं पारिजाताख्यं वसु धनम् इन्द्रेण सार्द्धं तव विभजेमहि विभागं करिष्याम:। ऐरावतादीनामुपभोगमिन्द्रादय: कुर्वन्तु पारिजातं तु तदीयमत्र दापयिष्याम:। एतेन पारिजातहरणं शक्रमदमङ्गश्च प्रोक्त:। नभन्तामिति प्राग्वत्॥६॥

अनुवाद- नारदमुनि पारिजात हरण सम्बन्ध में श्रीकृष्ण महिषीगण के ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं। हे भगवन्! "गुष्पितं" पुष्पित वृक्ष की "व्रततेरिव" लता से पुष्प गुच्छ संग्रह की भाँति स्वर्ग से "वृश्छ" अलग करके "पुराणवत्" विष्णु के समान अदिति के पुत्र रूप में इन्द्र का भाग हरणकारी होकर "दासस्य" विघ्नकारी इन्द्र का "उज:" शक्ति का "दम्भय" नाशकर। "वयं"

हम सब ऋषियों "तत् अस्य संभृतं" तुम्हारे पिता कश्यप के द्वारा सञ्चित "वसु" पारिजात नामक रत्न "इन्द्रेण" इन्द्र के साथ "विभजेमहि" भाग कर देंगे। ऐरावतादि का भोग इन्द्र करेगा और पारिजात आपको मिलेगा। इससे पारिजातहरण एवं इन्द्र का गर्वनाश कथित हुआ। किन्तु "अन्यके समे" शत्रुवृन्द दूसरे की हिंसा करते रहते हैं॥६ ॥

वासयसीव वेधसस्त्वन्नः कदा न इन्द्र वचसो न बुबोधः।
अस्तन्तात्या धिया रयिं सुवीरं पृक्षो नो अर्वान्युहीत वाजी॥७॥

ऋग्वेद सं. ५।४।४/ ७।३७।६

तदेवं सन्निहितानां मनोरथपूरणं कृतम् देशान्तरस्थानामपि तत्कृत्रमिति द्रौपद्याह। वासयसीवेति। हे वेधसः इदं ब्रह्मणोपि परमेश्वर त्वं नः अस्मान् कौरवसभायां दुःशासनेनोपस्पृष्टवस्त्रान्। बहुत्वं पूजायाम्। वस्त्रान्तरै वासयसीव आच्छादयसीव। उर्ध्वोर्ध्व वस्त्रापगमोत्तरमन्तराच्छादितमेव आत्मानं पश्यामि न तु अनाच्छाद्यमानम्। तेन वासयसीवेत्यनुमीयस इत्यर्थः। नः अस्माकं वसचः प्रार्थनावाक्यं दूरदेशस्थश्च कदा बुबोध बुद्धवानसि। त्राहीति वाक्योच्चारणात् प्रागेव त्राणं कृतवानसीत्यर्थः। किं च अस्तं गृहं रयि राज्यादिकं धनं सुवीरं परिक्षिदाख्यं पुत्रं च तात्या तत्पालनेन धिया बुद्धिसचिव्येन च पृक्षः पृतनाः क्षिणोतीति शत्रुसैन्यहन्ता अर्वा नित्यसन्निहितः बाजी वेगवान् नः अस्मान् न्युहीत अवसत् प्रापितवान्। जयद्रथ वधादौ हि प्रतिज्ञाभङ्गात् अर्जुननाशे पाण्डवानां गृहमेव उच्छिन्नं स्यात्। अतो गृहस्य संरक्षणम् त्वयैव कृतम्। एवमन्यदपि ज्ञेयम्॥७॥

अनुवाद- श्रीकृष्ण जिस प्रकार समीप में रहने वालों का मनोरथ पूर्ण किए थे, उस प्रकार देशान्तर में रहने वालों का भी मनोरथ पूर्ण किये थे। द्रौपदी कह रही हैं—"हे वैधसः"! हे ब्रह्मन्! हे परमेश्वर! "त्वं" आप "नः" कौरव सभा में दुःशासन के द्वारा मेरा वस्त्र खींचने के कारण वस्त्रान्तर के द्वारा मुझको ढके थे। दूसरे के द्वारा वस्त्र उखाड़ लेने के पहले ही आपने वस्त्र से मुझको ढके थे। इस प्रकार देखी थी, अपने की अनाच्छादित नहीं देखी। "नः वचनः" दूर देश में रहकर भी आपने कब समझा "बुबोधि"? "त्राहि" इस

प्रकार कहने के पहले ही आपने मुझको त्राण किया। और भी "अस्तं गृहं रायं" राज्यादि सम्पद् "सुधीरं" परीक्षित नाम के पुत्र को "तात्या" पालन के हेतु "धिया" बुद्धि बल से "पृक्ष:" शत्रु सैन्य को मार डाले थे। "अर्वा" नित्य पास में रहकर "बाजी" वेगवान् होकर "न:" हम सबको "न्युहीत" सहारा दिये थे। जयद्रथ वध प्रकरण में प्रतिज्ञा भङ्ग हेतु अर्जुन का नाश होने से पाण्डवगण निराश्रय हो जाते। इसलिए पाण्डवों के घर की रक्षा आपने की। इस प्रकार दूसरा कार्य्य भी जानना होगा ॥७॥

मानो अग्ने वीरते पऽरादा दुर्वाससेऽमतये मानो अस्यै।
मा नः क्षुधे मारक्षस ऋतावो मानोदमे मावन आजुहूर्था: ॥८॥

ऋग्वेद संहिता ५।१।२६/ ७।१।१९

अग्निप्रसादात् स्वयं स्वोत्पत्त्यग्न्युपाधिकमेव भगवन्तं स्तौति द्रौपद्येव। मानो अग्न इति। हे अग्न नः अस्मान् वीरात् विक्रान्तात्ते अर्जुनादन्यस्मै स्वयम्वरकाले मा परादाः न पराकृता दत्तवानसि। तथा दुर्वाससे ऋषये वने दुर्य्योधन वचनादकालेऽभ्यागताय। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तस्य अमतये विरोधि बुद्धये यदयकालेऽपि गतं मां शिष्यैः सहितं न भोजयिष्यन्ति तर्हि सर्वान् पाण्डवान् शापेन भस्मीकरिष्यामीत्येवं रूपाय अस्यै बुद्धिस्थायै नः मा दाः। मानः क्षुधे। वने सूर्य्यप्रसादात् क्षुधे स्वाद्याय नः मादाः। मा रक्षसे भीमार्जुनयोः परीक्षे धर्मराजं मां च हृतवते ब्राह्मणरूपाय राक्षसे नोऽस्मान् मा दाः। हे ऋतारः ऋतेन सत्येन वातीति ऋतवः तस्य सम्बोधनं हे ऋतवः। दैर्घ्यं सांहितिकम्। हे सत्यपक्षपातिन् दमे गृहे कौरवसभायां नोऽस्मान् आजुहूर्थाः दुःशासनादिद्वारा मान आजुहूथाः। न प्रसह्य हृतवानसि। तत्र तत्र व्याधितुमागतेषु शत्रुषु रक्षितवानसीत्यर्थः ॥८

अनुवाद- यज्ञाग्नि से उत्पन्न होने के कारण द्रौपदी उत्पत्ति का कारण स्वरूप अग्नि उपाधिक भगवान् का स्तव कर रही हैं। "हे अग्ने:" हे भगवन् "न:" मुझे "वीरते" पराक्रान्त अर्जुन को छोड़कर अन्य किसी की "मा परोदा" अवज्ञा करके दान न करना। स्वयम्वर के समय अन्य सबको अनादर करके महावीर अर्जुन को ही मुझको दिये थे। "दुर्वासस" दुर्वासा को द्रोपदी के भोजन कर लेने के बाद आश्रम में अतिथि होने के लिए दुर्य्योधन कहे थे। मतलब यह

था कि भोजन न करा सकने से दुर्वासा उन सबको भस्म कर देंगे। "अस्ये" ऋषि को बुद्धि हो जाने से आपने "नः" हम सबको शाप से बचा दिये थे। "क्षुधे" वनवासकाल में सूर्यप्रसाद से क्षुधा के कवल से "नः मादा" हम सबको पतित नहीं होने दिये थे। "मा रक्षसे" भीम एवं अर्जुन के उपस्थित न रहने से ब्राह्मण के वेश धारण कर एक राक्षस धर्मराज व द्रौपदी को अपहरण करके ले जाने के लिए आया था। आपने ही हम सबको ले जाने नहीं दिया। "हे ऋताव:" हे सत्य पक्षपातिन्! "दमे" कौरव सभा में "नः" आपने हम सबको दु:शासनादि के द्वारा अपहरण करके ले जाने नहीं दिया। जहाँ-जहाँ पर शत्रु हमारे अनिष्ट साधन करने के लिए आया, उस उस स्थल में ही आपने हम सबकी रक्षा किये॥८॥

उत्समुद्रान् मधुना उर्म्मिरागात् साम्राज्याय प्रतरं दधानः।
अमीच ये मघवानो वयं चेषमूर्जं मधुमत् सम्भरेम॥९॥

ऋग्वेद सं. ६।३।२७

अथ हरिवंशे उपबृंहितां भगवतः समुद्रे सलीलक्रीड़ामनुवर्णयति मन्त्रः। उत्समुद्रादिति। क्षीरोदादपि मधुना मधुमान् अमृतयः उर्म्मिः उदागात् उद्गतः। स च साम्राज्याय सम्राट् सर्वराजाधिराजः हरिः तस्यैदं लीलाकर्म्मसाम्राज्यं तस्मै कृष्णस्य क्रीड़ार्थं तरं प्रकर्षेण दधानः। स एव समुद्रस्तमूर्म्मिं विपुलतरः कृत्वा धत्त इत्यर्थः। अमीच पुरोवर्त्तिनो मघवानः इन्द्रतुल्याः ये वा सन्ति वयं च मानुषाः सर्वे सहैव इवं अन्नम् उर्ज्जं रसं च मधुमत् अमृतस्वादुमत् सन्भरेम विहारे स्वीकुर्म्मः। स्वार्थमीश्वरार्थं चेति भावः॥९॥

अनुवाद- हरिवंश वर्णित समुद्र में जलक्रीड़ा का वर्णन इस मन्त्र में कहते हैं। "समुद्रात्" क्षीरोद समुद्र से तरङ्ग "मधुना उर्म्मिः" उठी थी। समुद्र "साम्राज्याय" सर्व राजाधिराज श्रीकृष्ण की क्रीड़ा के निमित्त "प्रतरं" प्रकृष्टरूप से स्वच्छ वारि धारण किये थे। अर्थात् समुद्र उर्म्मि को विपुलतर करके धारण किया था। "अमी" अग्रवर्त्ती "मघवानः" इन्द्र के समान जो लोक विद्यमान हैं वे सब एवं "वयं" हम सब मनुष्यों के साथ "ईषं" अन्न व "उर्ज्जं" रस को "मधुमत्" अमृतस्वादुमय रूप से "सम्भरिम" भगवान् के लीला विहार के लिए स्वीकार करते हैं। हरिवंश पुराण के विष्णु पर्व ८८।२३ में लिखित है—

उवाह सर्व गन्धाढ्यं स्वच्छं वारि महोदधिः।
तोयं चालवनं मृष्टं वासुदेवस्य शासनात्॥

वासुदेव श्रीकृष्ण के शासन के समय समुद्र लवणहीनं सुगन्धयुक्त सुमिष्ट वारि धारण करते थे॥९॥

स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नियदासु यजुर्दधे।
स माया अर्चिना पदाऽस्तृणान्नाकमारुहयभं तामन्यके समे॥१०॥

ऋग्वेद संहिता ६।३।२७/ ८।४१।८

एवं समुद्रे क्रीड़ता भगवता स्वर्लोकं प्रत्यपि गतमित्याह। स समुद्रः इति। यो विष्णुना क्रीड़ापुष्करिणीकृतः स प्रसिद्धः समुद्रः अपीच्यो रम्यतमः तुरो वेगवान् द्यां रोहतीव स्वर्गापेक्षया स्वस्याधिक्यं दर्शयतीव। यत् यतः आसु सामुद्रीषु अप्सु यजुर्यज्ञेश्वरो भगवान् निदधे स्वयमेव क्रीड़ार्थं स्वात्मानं स्थापितवान्। स यजुः शब्दितः मायाः अपरिमित स्त्रीपुत्रबन्ध्वादिरूपेण दर्शिताः अस्तृणात् हिंसितवान् सर्वासां मायानामुपसंहारं चकारेत्यर्थः। मायाः— पूतनाबधादिलीलाः अस्तृणात् विस्तारितवान् इति वा। तत्र हिंसायां हेतुः— अर्च्चिनापदेति। अर्च्चिना पूज्येन अर्च्चिरादिमार्ग पर्व्वता पदेन वैकुण्ठख्यस्थानेन तत् प्रापयितुमित्यर्थः। ततश्च स्वयमपि ताभिर्नारीभिः सह नाकं स्वर्गमारुहत् आरूढ़वान् यः तमेव कीर्त्तय। कामक्रोधाद्याः समे सर्वे अन्यके कुत्सिताः शत्रवो नानायोनिप्रदत्वात् नभं तां मा भुवन्नश्यन्तामित्यर्थः। ततश्च निर्विघ्नेन वयमपि भगवत्स्वरूपानन्दं प्राप्स्याम इत्यर्थः॥१०॥

अनुवाद- इस प्रकार समुद्र क्रीड़ारत भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा ही स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन इस मन्त्र में है। "सः समुद्रः" भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा जो लीला सरसी स्वरूप हुआ था वही समुद्र, "अपीच्यः" अति रमणीय "तुरोः" वेगवान् होकर "द्यां रोहति इव" स्वर्ग से भी अपना उत्कर्ष प्रदर्शन करते हैं। "यत्" कारण "अप्सु" समुद्र जल में "यजुः" यज्ञेश्वर श्रीकृष्ण के "निदधे" लीलाविहार के लिये व्यवस्था किये थे। अर्थात् द्वारकापुरी निर्माण करके निवास किये थे। "स" भगवान् श्रीकृष्ण "मायाः" अपरिमित स्त्री पुत्र बन्धु आदि रूप में दिखाई दिये थे। एवं "अस्तृणात्" समस्त माया का हिंसा अर्थ में उपसंहार किये थे। अथवा पूतना बधादि लीला का विस्तार किये थे। यहाँ पर "अर्चिनापदेति" अति

श्रेष्ठ वैकुण्ठ धाम में उन सबको स्थान देने के निमित्त जानना होगा। वे सब नारियों के सहित "नाकं आरुहत्" स्वर्ग चले गये थे। उन श्री भगवान् श्रीकृष्ण का गुण कीर्त्तन करो। "समे अन्यके" काम क्रोध आदि अपर सब कुत्सित शत्रुगण नाना प्रकार जन्म प्रदान करते हैं, इसलिए उन सबका विनाश साधन करो, "नभं तां" उनका विनाश साधन करो। ऐसा होने पर हम सब विना बध से भगवत् स्वरूपानन्द एकता अनुकूलता रूप प्रेमानन्द को प्राप्त कर धन्य होंगे॥१०॥

वाक्यार्थे व्यास-वाल्मिकी पदार्थे यास्क-पाणिनी।
रामकृष्णकथां मन्त्रैर्गायेते मम नायकौ॥१॥
सार्द्धं शतद्वयमृचां रामकृष्ण-कथानुगम्।
दर्शितं भगवांस्तेन तुष्यतां सात्वतां पतिः॥२॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्य्यादाधुरन्धरचतुर्धरवंशावतंस गोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठस्य कृतौ सोद्धृतमन्त्रभागवत व्याख्यायां मन्त्ररहस्य प्रकाशिकायां मथुराकाण्डश्चतुर्थः॥४॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः प्रकाशिका-व्याख्यासहितः॥

अनुवाद- वाक्यार्थ प्रकाश करने में व्यास एवं वाल्मिकी प्रसिद्ध हैं। पद का अर्थ विश्लेषण करने में यास्क एवं पाणिनि प्रसिद्ध हैं। मेरा इस कार्य्य का आदर्श वे लोक हैं। उन लोगों ने ही श्रीश्रीरामकृष्ण लीला कथा का कीर्त्तन मन्त्र के द्वारा किये हैं॥१॥

प्रस्तुत ग्रन्थ में सार्द्ध दो सौ (२५०) मन्त्र का उद्धरण किया गया है; जिसमें श्री श्री रामकृष्ण की लीला कथा का वर्णन हुआ है। इस कार्य से सात्वत पति भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होवें॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्य्यादाधुरन्धरचतुर्धर वंशावतंस गोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठ कृत सोद्धृतमन्त्रभागवत व्याख्या में मन्त्ररहस्य प्रकाशिका टीका का चतुर्थ मथुराकाण्ड समाप्त हुआ॥४॥

प्रकाशिका-व्याख्यासहित यह ग्रन्थ समाप्त हुआ॥

शास्त्रिणा हरिदासेन वृन्दारण्यनिवासिना।
पूरिता विमलाभाषा सज्जनसुख हेतवे॥

श्रीहरिदास शास्त्री सम्पादित ग्रन्थावली

(श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस से प्रकाशित)

क्रम सद्ग्रन्थ	मूल्य
१-वेदान्तदर्शनम् भागवतभाष्योपेतम्	१५०.००
२-श्रीनृसिंह चतुर्दशी	१०.००
३-श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	२०.००
४-श्रीगौरगोविन्दार्चनपद्धति	२०.००
५-श्रीराधाकृष्णार्चनदीपिका	२०.००
६-७-८-श्रीगोविन्दलीलामृतम्	४५०.००
९-ऐश्वर्यकादम्बिनी	३०.००
१०-श्रीसंकल्पकल्पद्रुम	३०.००
११-१२-चतु:श्लोकीभाष्यम्, श्रीकृष्णभजनामृतम्	३०.००
१३-प्रेम सम्पुट	४०.००
१४-श्रीभगवद्भक्तिसार समुच्चय	३०.००
१५-ब्रजरीतिचिन्तामणि	४०.००
१६-श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	३०.००
१७-श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश	५०.००
१८-श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र	५.००
१९-श्रीहरिभक्तिसारसंग्रह	५०.००
२०-धर्मसंग्रह	५०.००
२१-श्रीचैतन्यसूक्तिसुधाकर	१०.००
२२-श्रीनामामृतसमुद्र	१०.००
२३-सनत्कुमारसंहिता	२०.००
२४-श्रुतिस्तुति व्याख्या	१००.००
२५-रासप्रबन्ध	३०.००
२६-दिनचन्द्रिका	२०.००
२७-श्रीसाधनदीपिका	६०.००
२८-स्वकीयात्वनिरास, परकीयात्वनिरूपणम्	१००.००
२९-श्रीराधारससुधानिधि (मूल)	२०.००
३०-श्रीराधारससुधानिधि (सानुवाद)	१००.००
३१-श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्	३०.००
३२-श्रीगौरांग चन्द्रोदय	३०.००
३३-श्रीब्रह्मसंहिता	५०.००

३४-भक्तिचन्द्रिका	३०.००
३५-प्रमेयरत्नावली एवं नवरत्न	५०.००
३६-वेदान्तस्यमन्तक	४०.००
३७-तत्वसन्दर्भः	१००.००
३८-भगवत्सन्दर्भः	१५०.००
३९-परमात्मसन्दर्भः	२००.००
४०-कृष्णसन्दर्भः	२५०.००
४१-भक्तिसन्दर्भः	३००.००
४२-प्रीतिसन्दर्भः	३००.००
४३-दशःश्लोकी भाष्यम्	६०.००
४४-भक्तिरसामृतशेष	१००.००
४५-श्रीचैतन्यभागवत	२००.००
४६-श्रीचैतन्यचरितामृतमहाकाव्यम्	१५०.००
४७-श्रीचैतन्यमंगल	१५०.००
४८-श्रीगौरांगविरुदावली	४०.००
४९-श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत	१५०.००
५०-सत्संगम्	५०.००
५१-नित्यकृत्यप्रकरणम्	५०.००
५२-श्रीमद्भागवत प्रथम श्लोक	३०.००
५३-श्रीगायत्री व्याख्याविवृतिः	१०.००
५४-श्रीहरिनामामृत व्याकरणम्	२५०.००
५५-श्रीकृष्णजन्मतिथिविधिः	३०.००
५६-५७-५८-श्रीहरिभक्तिविलासः	६००.००
५९-काव्यकौस्तुभः	१००.००
६०-श्रीचैतन्यचरितामृत	२५०.००
६१-अलंकारकौस्तुभ	२५०.००
६२-श्रीगौरांगलीलामृतम्	३०.००
६३-शिक्षाष्टकम्	१०.००
६४-संक्षेप श्रीहरिनामामृत व्याकरणम्	८०.००
६५-प्रयुक्ताख्यात मंजरी	२०.००
६६-छन्दो कौस्तुभ	५०.००
६७-हिन्दुधर्मरहस्यम् वा सर्वधर्मसमन्वयः	५०.००
६८-साहित्य कौमुदी	१५०.००
६९-गोसेवा	४०.००
७०-पवित्र गो	५०.००
७१-गोसेवा (गोमांसादि भक्षण विधिनिषेध विवेचन)	५०.००
७२-रस विवेचनम्	५०.००
७३-अहिंसा परमो धर्मः	१००.००
७४-भक्ति सर्वस्वम्	५०.००

७५-उत्तमाभक्ति का लक्षण एवं माहात्म्य
(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व विभाग प्रथम लहरी; श्रीदुर्गमसङ्गमनी, श्रीअर्थरत्नाल्पदीपिका एवं श्रीभक्तिसार प्रदर्शिनी टीका व सबका हिन्दी अनुवाद सहित) — १५०.००

७६-श्रीमद्भगवद्गीतोक्त भगवत्प्राप्ति का उपाय तथा श्रीगुर्वाष्टक, सेवापराध और नामापराध — ५०.००

७७-रासलीला — ५०.००

७८-मन्त्रभागवत — ५०.००

बंगाक्षर में मुद्रित ग्रन्थ

१-श्रीबलभद्रसहस्रनाम स्तोत्रम् — १०.००
२-दुर्लभसार — १०.००
३-साधकोल्लास — ५०.००
४-भक्तिचन्द्रिका — ४०.००
५-श्रीराधारससुधानिधि (मूल) — २०.००
६-श्रीराधारससुधानिधि (सानुवाद) — ३०.००
७-श्रीभगवद्भक्तिसार समुच्चय — ३०.००
८-भक्तिसर्वस्व — ५०.००
९-मन:शिक्षा — ३०.००
१०-पदावली — ३०.००
११-साधनामृतचन्द्रिका — ४०.००
१२-भक्तिसंगीतलहरी — २०.००

अंग्रेजी भाषा में मुद्रित ग्रन्थ

१-पद्यावली (Padyavali) — २००.००
२-गोसेवा (Goseva) — ५०.००
३-पवित्र गो (The Pavitra Go) — ८०.००
४- A Review of "Beef in ancient India" — २००.००
५-Scriptural Prohibitions on Meat-Eating — १००.००
६-Dinachandrika — ५०.००
७-THE MEANS TO ATAIN BHAGAVAN AS PER SRIMAD-BHAGAVAD-GITA, SRI-GURVASTAK AND ADVERTENT AVOIDANCE OF SEVA-APARADHA AND NAMA-APARADHA — ५०.००

अन्य भाषाओं में मुद्रित ग्रन्थ

१- Pavitra Go (Spanish)
२- Goseva Pavitra Go (Italian)
३-गोसेवा (गोमांसादि भक्षण विधिनिषेध विवेचन) (तमिल)
४-पवित्र गो (तमिल)

॥श्रीहरि:॥

गाय बची तो मनुष्य बचेगा

योगी अश्विनी (अमर उजाला से साभार, २६ अप्रैल २०१३)

हमारे पूर्वज सृष्टि के नियमों और प्रक्रिया विधि को अच्छी तरह जानते थे। उन्हें गाय के महत्व का पता था और उसे सताने, उसका उत्पीड़न करने से होने वाले परिणामों का भी ज्ञान था। इसलिये इतिहास में सभी संस्कृतियों व धर्मों में यदि गाय को पूजा जाता था तो इसमें कोई अचम्भे वाली बात नहीं थी। चाहे वह मिस्र देश की देवी हाथोर हो, फ्रांस की दिव्य गाय दामोना हो, अति प्रचीन गाय औधुम्बला हो जो नॉर्डिक्स के अनुसार मानवता की जननी थी, ग्रीक देवी लो हो, भगवान् शिव का प्रिय नन्दी हो या फिर समृद्धि लाने वाली गाय कामधेनु हो, सभी प्रतीकों में गाय को आराध्य बताया गया है, क्योंकि जीवन की धुरी इस प्राणी के इर्द गिर्द घूमती थी। अथर्ववेद के अनुसार धेनु सदानाम रईनाम (११-१-३४) गाय समृद्धि का मूल स्रोत है। इस मन्त्र से सिद्ध हो जाता है कि वैदिक ऋषियों को सृष्टि की कितनी गहरी समझ थी। गाय को देखें तो ज्ञात होता है कि इसी के कारण हमें दूध व अन्य डेयरी उत्पाद मिलते हैं, इसके गोबर से ईंधन व खाद मिलती है, इसके मूत्र से दवायें व उर्वरक बनते हैं। जब बैल हमारे खेतों में चलते हैं तो खेत जुतते हैं और दीमक दूर हो जाते हैं, जब हम देवों से सम्पर्क साधना चाहते हैं तो हम गाय के घी व उपले से यज्ञ करते हैं। जब गाय ने कबीर के माथे को चाटा तो कबीर को अद्भुत काव्यगत क्षमताओं का आशिर्वाद मिल गया। गाय समृद्धि व प्रचुरता की द्योतक है, वह सृष्टि के पोषण का स्रोत है, वह जननी है।

आज गोजातीय देवी का अपमान किया जा रहा है, उसका शोषण हो रहा है और बड़ी बेरहमी से उसका संहार किया जा रहा है। जिस गाय को कभी मन्दिरों और महलों में रखा जाता था, आज उसे ऐसे स्थानों में रखा जा रहा है जहाँ ताजी हवा नहीं है, उसे प्लास्टिकादि के कूड़ाघर में पेट भरने के लिए छोड़ दिया जाता है। उसे स्टेरायड व एन्टीबायोटिक कृत्रिम गर्भधारण करवाया जाता है और अन्त में हमें मांस का भोग करने के लिए मार दिया जाता है। दुनिया में प्रचलित सभी धर्मों में कर्म के विधान को महत्व दिया गया है। धर्म मार्ग के शिक्षाओं का सारतत्व यह है कि जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे। आप कल्पना कर सकतें हैं कि हमें पोषण देने वाली और हमारा पालन करने वाली गाय का शोषण कर हम कैसे कर्म एकत्रित कर रहें हैं। हमारे शरीर पर इसका प्रभाव तुरन्त दिखाई देता है और हमारे जीवन पर इसका प्रभाव प्रकट होने में कुछ वर्ष का समय लगता है।

गौशाला

श्रीहरिदास निवास आश्रम में एक बृहद् गौशाला है, जिसमें गोवंश की संख्या लगभग २२५ है। यहाँ पर गायों की सेवा उनके अनुकूल रूप में की जाती है, न कि व्यवसाय की दृष्टि से। गायें श्रीकृष्ण की भी पूज्य हैं जो कि उनकी भौमलीला से विदित होता है। उनको ही आदर्श मानकर यहाँ पर गाय की सेव्यरूप में सेवा की जाती है। गोसेवा के लिए '**श्रीहरिदास शास्त्री गोसेवा संस्थान**' की स्थापना की गयी है। तथा तेहरा ग्राम में ४.५९२ हेक्टेयर भूमि भी खरीदी गयी है। वहाँ पर भी बृहद् गौशाला है। वृद्धावस्था में भी महाराजश्री स्वयं गोसेवा करते हैं। आश्रम का वातावरण प्राचीन समय के ऋषिकुलों जैसा है। आश्रम में '**श्रीगदाधरगौर-श्रीराधागोविन्ददेवजी महाराज का मन्दिर,**' प्राचीन '**श्रीहनुमानजी का मन्दिर,**' '**श्रील विनोद विहारी गोस्वामी महाराजजी का समाधि मन्दिर**' आदि हैं। '**श्रीगौरगदाधर ग्रन्थागारम्**' नामक एक विराट ग्रन्थागार भी है जिसमें प्रचुर प्राचीन मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आश्रम की एक '**प्रेस**' भी है, जिसका नाम "**श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस**" है। इस प्रेस से अब तक लगभग १०० ग्रन्थों का संस्कृत, हिन्दी, बंगला, तमिल, अंग्रेजी, स्पैनिश, इटालियन आदि भाषाओं में प्रकाशन हो चुका है।

मुद्रक

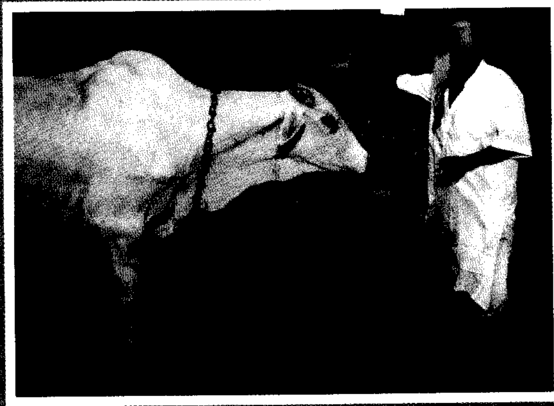
श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस

श्रीहरिदास निवास, पुराना कालीदह, वृन्दावन (मथुरा)

Website: www.sriharidasniwas.org

E-mail: info@sriharidasniwas.org

॥श्रीहरिः॥





श्रीहरिदास शास्त्री

संस्थापकाध्यक्ष :-

श्रीहरिदास शास्त्री गोसेवा संस्थान

श्रीहरिदास निवास, पुराना कालीदह,

वृन्दावन, मथुरा, (उत्तर प्रदेश)।